डा. राजेंद्र सिंह, जलपुरुष
प्रोफ. भरत राज सिंह
डॉ. इंदिरा खुराना
प्रोफ.राणा प्रताप सिंह

प्रकृति और संस्कृति से विकसित भारत की परिकल्पना:

भारतीय भू-सांस्कृतिक परंपराओं पर आधारित—सनातन एवं आधुनिक विकास की एक पहल

डा. राजेंद्र सिंह, जलपुरुष
प्रोफ.भरत राज सिंह
डॉ. इंदिरा खुराना
प्रोफ.राणा प्रताप सिंह

प्रकृति और संस्कृति से विकसित भारत की परिकल्पना:

भारतीय भू-सांस्कृतिक परंपराओं पर आधारित—सनातन एवं आधुनिक विकास की एक पहल

तरुण भारत संघ, अलवर, राजस्थान

व

वैदिक विज्ञानं केंद्र व सी. वी. रमन अनुसंधान एवं नवाचार केन्द्र

स्कूल ऑफ़ मैनेजमेंट साइंसेज, लखनऊ

प्रकृति और संस्कृति से विकसित भारत की परिकल्पना: भारतीय भू-सांस्कृतिक परंपराओं पर आधारित—सनातन एवं आधुनिक विकास की एक पहल

प्रकाशित: नवम्बर 2026
संस्करण: प्रथम
ISBN: 978-93-6581-530-6

विवरण:

यह पुस्तक "प्रकृति और संस्कृति से विकसित भारत की परिकल्पना" भारत को उसकी धरती, जल, जलवायु, जैव-विविधता, आजीविका, लोकज्ञान और सांस्कृतिक परंपराओं के समग्र दृष्टिकोण से समझने का प्रयास है। इसका मूल संदेश है—"धरती बचेगी तो समाज बचेगा; समाज बचेगा तो संस्कृति बचेगी।" इसी दृष्टि को आगे बढ़ाते हुए किसान, जल-संरक्षक, ग्रामीण कार्यकर्ता, महिलाएँ, युवा, वैज्ञानिक एवं शिक्षाविदों द्वारा 15-16 नवम्बर 2025 की दो दिवसीय व 11-13 सितम्बर 2026 के राष्ट्रीय सम्मेलन में स्थानीय ज्ञान, सामुदायिक सहभागिता, प्रकृति-सम्मत विकास तथा जल-जंगल-जमीन के संरक्षण को जारी "जन-घोषणापत्र" में भारत के सनातन, सतत, एवं न्यायपूर्ण भविष्य का आधार बताया गया है।

लेखक:

डा.राजेन्द्र सिंह, जलपुरुष व अध्यक्ष
तरुण भरत संघ, जयपुर, राजस्थान
प्रोफ.(डा.) भरत राज सिंह, पर्यावरणविद व महानिदेशक,
स्कूल ऑफ़ मैनेजमेंट साइंसेज, लखनऊ – 226501
डा. इंदिरा खुराना, पर्यावरणविद व अध्यक्ष, भारतीय हिमालयी नदी बेसिन परिषद**,** नई दिल्ली व
प्रोफ.(डॉ.) राणा प्रताप सिंह, पर्यावरणविद व पूर्व अकादमिक संकायाध्यक्ष
बाबासाहेब भीमराव अंबेडकर विश्वविद्यालय, लखनऊ

पुस्तक मूल्य: भारत ₹**399;** USD $**4.50**

Copyright: © 2026 Rajendra Singh, Bharat Raj Singh, Rana Pratap Singh & Indira Khurana

अस्वीकरण:

पुस्तक में निहित विषयवस्तु, तथ्य, विचार अथवा विश्लेषण के लिए उसके लेखक पूर्ण रूप से उत्तरदायी हैं। इसके समस्त अधिकार भी लेखक व संपादक के पास सुरक्षित हैं। प्रकाशक की विषयवस्तु के प्रति सहमति और उत्तरदायित्व नहीं है। पुस्तक या उसके किसी भी अंश का पुनर्प्रस्तुतिकरण किसी भी माध्यम से स्वीकार्य नहीं होगा। चाहे यांत्रिक माध्यम हो या इलैक्ट्रॉनिक; जानकारी का संचयन लिखित आज्ञा लिए बिना नहीं किया जाना चाहिए। केवल एक समीक्षक को समीक्षा में आंशिक उदधृत करने की छूट रहेगी।

प्रकाशक:

Natals Publication.
UDYAM-DL-02-0037614
Chhatarpur, SouthWest Delhi-110074,India
E-mail:natalspublications@gmail.com

Copyright © 2026 natals.in

समर्पण

यह पुस्तक "**प्रकृति और संस्कृति से विकसित भारत की परिकल्पना**" भारत की धरती, उसकी नदियों, पर्वतों, वनों, खेतों, जलस्रोतों, जैव-विविधता, लोकज्ञान, आजीविका और सांस्कृतिक परंपराओं से गहरे जुड़े उन सभी लोगों को समर्पित है, जिन्होंने पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रकृति के साथ संतुलित जीवन जिया, धरती को माँ माना, जल को जीवन माना, जंगलों को अपना घर समझा और गाँवों, कस्बों, पहाड़ों, रेगिस्तानों, मैदानों और तटों पर अपनी विशिष्ट जीवन-पद्धतियों, ज्ञान-परंपराओं और सांस्कृतिक विविधता से भारत की समृद्ध और जीवंत विरासत को संजोया है।

यह समर्पण उन लाखों किसानों, ग्रामीण समुदायों, महिलाओं, स्थानीय कार्यकर्ताओं जल-संरक्षकों, युवाओं, वैज्ञानिकों, शिक्षकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, गांधीवादी सर्वोदय कार्यकर्ताओं तथा सभी प्रकृति-प्रेमियों को है, जो धरती, जल, जंगल, जमीन, जैव-विविधता और मानवता के बेहतर भविष्य के लिए निरंतर कार्यरत हैं।

यह पुस्तक उन सभी लोगों को है जो भारत के भूगोल को केवल राजनीतिक सीमाओं से नहीं, बल्कि नदियों, पर्वतों, मैदानों, पठारों, वनों, जलधाराओं, मुदा, जलवायु, कृषि, जैव-विविधता, आजीविका, लोकज्ञान और संस्कृति के व्यापक दृष्टिकोण से देखते हैं, और जो मानते हैं कि धरती बचेगी तभी समाज बचेगा, समाज बचेगा ती संस्कृति बचेगी।

आप सबके समर्पण ज्ञान, संघर्ष और आशा को
सादर समर्पित

प्रस्तावना

भारत को समझने के लिए केवल उसके राजनीतिक मानचित्र को देखना पर्याप्त नहीं है। राज्य, जिले और प्रशासनिक सीमाएँ शासन-व्यवस्था के लिए आवश्यक हैं, किंतु भारत की वास्तविक आत्मा उन सीमाओं से कहीं व्यापक है। भारत की पहचान उसकी नदियों, पर्वतों, मैदानों, पठारों, वनों, खेतों, जलस्रोतों, जैव-विविधता, लोकज्ञान, आजीविका और उन सबके साथ विकसित हुई जीवन-पद्धतियों तथा सांस्कृतिक परंपराओं में निहित है। इसी व्यापक दृष्टि से **"प्रकृति और संस्कृति से विकसित भारत की परिकल्पना"** की संकल्पना सामने आती है।

किसी भी समाज की संस्कृति अचानक निर्मित नहीं होती। वह अपने परिवेश के साथ मनुष्य के दीर्घकालीन संवाद का परिणाम होती है। जहाँ जल उपलब्ध रहा, वहाँ जल-आधारित सभ्यताएँ और कृषि-पद्धतियाँ विकसित हुईं; जहाँ पर्वत और सीमित कृषि-भूमि रही, वहाँ विशिष्ट पर्वतीय जीवन-पद्धतियाँ बनीं; जहाँ जल का अभाव रहा, वहाँ तालाब, कुएँ, बावड़ियाँ और वर्षाजल-संरक्षण की परंपराएँ विकसित हुईं। इस प्रकार **भूगोल जीवन को आकार देता है और जीवन से संस्कृति जन्म लेती है।** आगे यही संस्कृति प्रकृति के प्रति मनुष्य के व्यवहार को प्रभावित करती है और संरक्षण की सामुदायिक चेतना को जन्म दे सकती है।

आज जब जलवायु परिवर्तन, वैश्विक तापवृद्धि, जल-संकट, जैव-विविधता का क्षरण, भूमि-अवनयन, हिमनदों में परिवर्तन और प्राकृतिक आपदाओं का जोखिम बढ़ रहा है, तब इस संबंध को नए सिरे से समझना आवश्यक हो गया है। जलवायु परिवर्तन केवल पर्यावरणीय समस्या नहीं है; यह कृषि, आजीविका, सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक निरंतरता को भी प्रभावित करता है। इसलिए भविष्य की विकास-दृष्टि ऐसी होनी चाहिए जो प्रकृति की सीमाओं, स्थानीय परिस्थितियों और समुदायों के अनुभवों को विकास-निर्णयों का अभिन्न हिस्सा बनाए।

इसी विचार को व्यवस्थित रूप देने के लिए पुस्तक में **15 कृषि-जलवायवीय क्षेत्र, 50 भौगोलिक-भौतिक इकाइयाँ और 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र** की अवधारणा को एक क्रमिक दृष्टि के रूप में प्रस्तुत किया गया है। 15 हमें

जलवायु और कृषि के व्यापक आधार को समझने की दिशा देते हैं; 50 धरती के भौतिक स्वरूप और पारिस्थितिक तंत्रों को अधिक सूक्ष्मता से देखने का आधार प्रदान करते हैं; जबकि 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र इस यात्रा को मनुष्य, समाज, आजीविका और संस्कृति तक ले जाते हैं। इस प्रकार यह संरचना **जलवायु → भूगोल → जीवन → संस्कृति → संरक्षण** की परस्पर जुड़ी यात्रा को स्पष्ट करती है।

इस पुस्तक की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें **तरुण भारत संघ के अध्यक्ष, डॉ. राजेंद्र सिंह, जलपुरुष** के दशकों के सामुदायिक जल-संरक्षण अनुभव को; **प्रो.(डॉ.) भरत राज सिंह, डा. इंदिरा खुराना** व **प्रो.(डा.) राणा प्रताप सिंह** के पर्यावरणीय एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ जोड़कर देखा गया है। एक ओर जलागम, वर्षाजल-संचयन, पारंपरिक जल-संरचनाओं, नदी-पुनर्जीवन और ग्राम-स्तरीय जनभागीदारी का धरातलीय अनुभव है; दूसरी ओर जलवायु परिवर्तन, वैश्विक तापवृद्धि, हिमनद, जल-सुरक्षा, नवीकरणीय ऊर्जा, प्रदूषण, पर्यावरणीय नियोजन और आपदा-जोखिम को वैज्ञानिक दृष्टि से समझने का प्रयास है। ये दोनों धाराएँ एक-दूसरे की पूरक हैं।

पुस्तक का आग्रह न तो केवल अतीत की परंपराओं की ओर लौटने का है और न ही केवल आधुनिक तकनीक पर निर्भर रहने का। इसका मूल विचार **सनातन विरासत से स्थानीय ज्ञान और आधुनिक विज्ञान के रचनात्मक संवाद** में निहित है। किसान, महिलाएँ, ग्रामीण समुदाय और स्थानीय कार्यकर्ता अपने क्षेत्र की मिट्टी, जलधाराओं, मौसम, खेती और संसाधनों का व्यावहारिक ज्ञान रखते हैं; वहीं आधुनिक विज्ञान उपग्रह, भौगोलिक सूचना प्रणाली, सेंसर, डेटा, मॉडलिंग, मौसम निगरानी और पूर्व चेतावनी जैसी तकनीकी क्षमताएँ उपलब्ध कराता है। दोनों के समन्वय से क्षेत्र-विशिष्ट और अधिक प्रभावी पर्यावरणीय समाधान विकसित किए जा सकते हैं।

इसी सोच को व्यापक सामाजिक संदर्भ प्रदान करता है 15-16 नवम्बर 2025 की **इंडियन नेशनल साइंस अकादमी** (INSA) में दो दिवसीय वैठक व 11–13 सितम्बर 2026 को **हरिजन सेवक संघ,** नई दिल्ली में आयोजित तीन दिवसीय भू-सांस्कृतिक विचार-गोष्ठी, जिसमें देश के विभिन्न क्षेत्रों से किसान, जल-संरक्षक, ग्रामीण कार्यकर्ता, महिलाएँ, युवा, वैज्ञानिक, शिक्षक,

सामाजिक कार्यकर्ता, गांधीवादी-सर्वोदय कार्यकर्ता और चिंतक एकत्र हुए। सम्मेलन के समापन दिवस 13 सितम्बर 2026 को जारी **"जन-घोषणापत्र"** ने इस विचार को सामूहिक संकल्प का रूप दिया—**"धरती बचेगी तो समाज बचेगा; समाज बचेगा तो संस्कृति बचेगी।"**

जन-घोषणापत्र में 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों की अवधारणा को गाँवों तक पहुँचाने, स्थानीय ज्ञान को "जीवित ज्ञान-संपदा" के रूप में मान्यता देने, जल-जंगल-जमीन और जैव-विविधता के संरक्षण, शिक्षा को प्रकृति और संस्कृति से जोड़ने, युवाओं की रचनात्मक भागीदारी बढ़ाने तथा विकास-निर्णयों में विज्ञान, कानून, स्थानीय ज्ञान और समुदाय की भागीदारी सुनिश्चित करने पर बल दिया गया है।

इस दृष्टि में **जल, जंगल, जमीन और जन** अलग-अलग विषय नहीं हैं, बल्कि एक ही जीवन-तंत्र के परस्पर जुड़े हुए घटक हैं। जल-सुरक्षा कृषि से जुड़ती है, कृषि आजीविका से, आजीविका सामाजिक संरचना से, सामाजिक संरचना संस्कृति से और संस्कृति प्रकृति के प्रति हमारे व्यवहार से। इसलिए संरक्षण को केवल किसी विभागीय कार्यक्रम के रूप में नहीं, बल्कि समाज और प्रकृति के पुनर्संबंध की प्रक्रिया के रूप में देखने की आवश्यकता है।

पुस्तक का एक महत्वपूर्ण संदेश यह भी है कि प्रकृति प्रशासनिक सीमाओं को नहीं मानती। नदी का प्रवाह, जलागम क्षेत्र, पर्वत, वन, जैव-विविधता और जलवायु-प्रक्रियाएँ राज्य और जिले की सीमाओं से परे जाती हैं। इसलिए विकास-योजना में प्रशासनिक इकाइयों के साथ-साथ नदी घाटी, जलागम, पर्वतीय पारिस्थितिकी, वन-परिदृश्य और अन्य प्राकृतिक इकाइयों को भी समझना आवश्यक है।

इस पुस्तक का अंतिम उद्देश्य केवल एक नया मानचित्र प्रस्तुत करना नहीं, बल्कि **भारत को देखने का एक नया दृष्टिकोण** विकसित करना है—ऐसा दृष्टिकोण जिसमें स्थानीय समुदाय विकास के निष्क्रिय लाभार्थी नहीं, बल्कि ज्ञान, संरक्षण और निर्णय-प्रक्रिया के सक्रिय सहभागी हों; जिसमें वैज्ञानिक ज्ञान और लोकज्ञान परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हों; और जिसमें आर्थिक प्रगति के साथ पर्यावरणीय सुरक्षा, सामाजिक न्याय और भावी पीढ़ियों के अधिकारों को भी महत्व मिले।

इस पूरी विचार-यात्रा को एक सूत्र में इस प्रकार समझा जा सकता है—
धरती → जल → कृषि → जैव-विविधता → आजीविका → समाज → संस्कृति → संरक्षण → पुनर्जनन → जलवायु-लचीलापन।

और इसके केंद्र में है—
"स्थानीय ज्ञान + सामुदायिक सहभागिता + आधुनिक विज्ञान + पर्यावरणीय संवेदनशीलता = सतत भविष्य।"

अंततः यह पुस्तक हमें स्मरण कराती है कि **भूगोल केवल धरती का स्वरूप नहीं, संस्कृति केवल परंपराओं का संग्रह नहीं और संरक्षण केवल संसाधनों को बचाने की प्रक्रिया नहीं है।** ये तीनों मिलकर मानव सभ्यता के भविष्य का आधार बनाते हैं। यदि हम अपनी धरती को समझेंगे, तो अपनी संस्कृति को बेहतर समझ पाएँगे; संस्कृति को समझेंगे, तो प्रकृति के साथ अपने संबंध को पहचानेंगे; और उस संबंध को विज्ञान, लोकज्ञान तथा जनभागीदारी से सशक्त करेंगे, तो संरक्षण से पुनर्जनन और पुनर्जनन से जलवायु-लचीले, सुरक्षित तथा सतत भारत की दिशा में आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त होगा।

यही "प्रकृति और संस्कृति से विकसित भारत की परिकल्पना" की मूल चेतना है।

— डॉ. राजेन्द्र सिंह, जलपुरुष
अध्यक्ष, तरुण भारत संघ,
राजस्थान

आभार

"प्रकृति और संस्कृति से विकसित भारत की परिकल्पना" केवल एक पुस्तक नहीं, बल्कि भारत की धरती, जल, जंगल, जैव-विविधता, लोकज्ञान, संस्कृति और मानव-प्रकृति संबंधों को एक समग्र दृष्टि से समझने का एक सामूहिक प्रयास है। इस पुस्तक के निर्माण की यात्रा में जिन व्यक्तियों, संस्थाओं, समुदायों और विचारधाराओं ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रेरणा, सहयोग और दिशा प्रदान की, उनके प्रति हम हृदय से कृतज्ञ हैं।

सर्वप्रथम हम **तरुण भारत संघ, राजस्थान** के प्रति अपनी गहरी कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। जल-संरक्षण, नदी-पुनर्जीवन, ग्राम-आधारित विकास और सामुदायिक सहभागिता के उनके दीर्घकालीन कार्य ने यह विश्वास मजबूत किया है कि प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण केवल सरकारी योजनाओं से नहीं, बल्कि समाज की सक्रिय भागीदारी और स्थानीय ज्ञान से संभव है। उनका जीवन और कार्य इस पुस्तक की मूल भावना को धरातलीय आधार प्रदान करता है।

हम **प्रो. (डॉ.) भरत राज सिंह** के पर्यावरणीय एवं वैज्ञानिक चिंतन के लिए भी आभार व्यक्त करते हैं, जिन्होंने इस पुस्तक की विचार-यात्रा को **धरती, जल, प्रकृति, समाज और संस्कृति से निर्मित एक जीवंत भू-सांस्कृतिक सभ्यता** व जलवायु परिवर्तन, वैश्विक तापवृद्धि, हिमनदों के परिवर्तन, जल-सुरक्षा, नवीकरणीय ऊर्जा, पर्यावरण संरक्षण और आपदा-जोखिम जैसे समकालीन वैज्ञानिक विषयों से जोड़ा। सामुदायिक अनुभव और वैज्ञानिक दृष्टि के इस समन्वय ने पुस्तक के भू-सांस्कृतिक विमर्श को व्यापक आयाम प्रदान किया है।

हम **डॉ. इंदिरा खुराना** और **प्रो. (डॉ.) राणा प्रताप सिंह** के प्रति भी विशेष आभार व्यक्त करते हैं, जिनका सहयोग इस पुस्तक की वैचारिक एवं संपादकीय यात्रा में महत्वपूर्ण रहा है। पुस्तक के निर्माण में विभिन्न विचारों, अनुभवों और सामग्री को एक समग्र रूप देने में उनका योगदान स्मरणीय है।

हम **तरुण भारत संघ** के उन सभी कार्यकर्ताओं, जल-संरक्षकों और ग्रामीण समुदायों के प्रति विशेष कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जिन्होंने अपने जीवन-

अनुभवों से यह सिद्ध किया कि स्थानीय ज्ञान, सामुदायिक श्रम और प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता मिलकर जल, भूमि और समाज के पुनर्जीवन का आधार बन सकते हैं।

भारत के भू-सांस्कृतिक मानचित्र को राष्ट्रीय स्तर पर प्रस्तुत करने, उसकी अवधारणा पर विशेषज्ञों के विचार प्राप्त करने तथा उसके वैज्ञानिक और व्यावहारिक आधार को आगे विकसित करने की दिशा में:

- **15–16 नवम्बर 2025** को नई दिल्ली स्थित **इंडियन नेशनल साइंस अकादमी** (INSA) में दो दिवसीय राष्ट्रीय विचार-मंथन कार्यशाला आयोजित की गई। जिसमें विभिन्न कृषि-जलवायवीय क्षेत्रों से आए प्रतिनिधियों, शिक्षाविदों, वैज्ञानिकों, डिजाइन विशेषज्ञों और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने भाग लिया।
- **11–13 सितम्बर 2026** को **हरिजन सेवक संघ, नई दिल्ली** में आयोजित तीन दिवसीय भू-सांस्कृतिक विचार-गोष्ठी में देश के विभिन्न भागों से सम्मिलित हुए किसानों, जल-संरक्षकों, ग्रामीण कार्यकर्ताओं, महिलाओं, युवाओं, वैज्ञानिकों, शिक्षकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, गांधीवादी-सर्वोदय कार्यकर्ताओं और चिंतकों ने प्रतिभाग किया ।

उनके अनुभवों, संवाद और सामूहिक चिंतन ने इस पुस्तक की विचारधारा को जन-आधार प्रदान किया, जिनके प्रति हम विशेष आभार व्यक्त करते हैं।

हम इस सम्मेलन के समापन पर 13 सितम्बर 2026 को जारी **"जन-घोषणापत्र"** से जुड़े सभी सहभागी साथियों के प्रति भी कृतज्ञ हैं। इस घोषणापत्र ने **"धरती बचेगी तो समाज बचेगा; समाज बचेगा तो संस्कृति बचेगी"** के मूल मंत्र को सामूहिक संकल्प के रूप में अभिव्यक्त किया और स्थानीय ज्ञान, 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों, प्रकृति-सम्मत विकास, जनभागीदारी तथा भावी पीढ़ियों के प्रति उत्तरदायित्व को स्पष्ट दिशा प्रदान की।

हम उन असंख्य किसानों, महिलाओं, आदिवासी एवं ग्रामीण समुदायों, कारीगरों और स्थानीय ज्ञान-परंपराओं के संवाहकों के प्रति भी नमन करते हैं, जिनके अनुभव किसी औपचारिक प्रयोगशाला से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। पीढ़ियों से संचित उनका ज्ञान भारत की जीवित ज्ञान-संपदा है। इस पुस्तक का उद्देश्य इसी ज्ञान को आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि के साथ संवाद में लाना है।

हम उन सभी वैज्ञानिकों, शिक्षकों, शोधकर्ताओं, पर्यावरणविदों और संस्थानों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं, जिन्होंने जलवायु, भूगोल, पारिस्थितिकी, जल-संसाधन, जैव-विविधता और सतत विकास से संबंधित विमर्श को समृद्ध किया। आधुनिक विज्ञान और स्थानीय अनुभव के बीच संवाद इस पुस्तक की महत्वपूर्ण आधारशिला है।

हम स्कूल ऑफ मैनेजमेंट साइंसेज़, लखनऊ के प्रबंधन, विशेष रूप से **सचिव व मुख्य कार्यकारी अधिकारी श्री शरद सिंह** के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं, जिनके सहयोग एवं प्रोत्साहन से इस ग्रंथ का संपादन एवं प्रकाशन सफलतापूर्वक सम्पन्न हो सका। संस्थान के सभी सहयोगियों का भी हम धन्यवाद करते हैं, जिनके सहयोग से यह कार्य सुचारु रूप से पूर्ण हुआ।

अंत में, हम अपने परिवारों, सहकर्मियों, मित्रों और उन सभी शुभचिंतकों के प्रति हृदय से आभारी हैं, जिन्होंने इस कार्य के दौरान निरंतर प्रोत्साहन, सुझाव और सहयोग दिया। किसी भी पुस्तक का निर्माण केवल लेखकों का व्यक्तिगत प्रयास नहीं होता; उसके पीछे अनेक ज्ञात-अज्ञात सहयोगियों की प्रेरणा और सहभागिता होती है।

हम आशा करते हैं कि यह पुस्तक भारत को केवल प्रशासनिक मानचित्र के रूप में नहीं, बल्कि **धरती, जल, प्रकृति, समाज और संस्कृति से निर्मित एक जीवंत भू-सांस्कृतिक सभ्यता** के रूप में समझने की दिशा में संवाद को आगे बढ़ाएगी।

सभी सहयोगियों और प्रेरणास्रोतों को सादर नमन एवं हृदय से धन्यवाद।

—डा. राजेंद्र सिंह, जलपुरुष
अध्यक्ष, तरुण भारत संघ,
राजस्थान

अनुक्रमणिका

अध्याय		भूमिका / विवरण	पृष्ठ सं०
		समर्पण	v
		प्रस्तावना	vii
		आभार	xi
		अनुक्रमणिका	xv
भाग-१	**-**	**भारत को नए दृष्टिकोण से समझाना**	**1-34**
	अध्याय-1	विषय परिचय	3-14
	अध्याय-2	भारत-केवल राजनितिक मानचित्र नहीं है	15-18
	अध्याय-3	भूगोल और संस्कृति का सम्बन्ध	19-24
	अध्याय-4	भू-संस्कृति दृष्टि की आवश्यकता	25-34
भाग-२	**-**	**तीन मानचित्र एक भारत**	**35-70**
	अध्याय-5	15-कृषि जलवायुवीय क्षेत्र	37-44
	अध्याय-6	50-भौगोलिक-भौतिक इकाइयाँ	45-52
	अध्याय-7	86-भू-सांस्कृतिक क्षेत्र-सूक्ष्म मानचित्र	53-60
	अध्याय-8	15-50-86 तीनो मानचित्र के बीच सम्बन्ध	61-70
भाग-३	-	**भू-सांस्कृतिक मानचित्र के 7-आयाम**	**71-110**
	अध्याय-9	धरती माता भू-विज्ञान	75-80
	अध्याय-10	जल ब्रह्म –जल विज्ञानं	81-84
	अध्याय-11	खेती से संस्कृति	85-88
	अध्याय-12	स्थानीय अर्थव्यवस्था	89-92
	अध्याय-13	पारिस्थितिकी-जैव-विविधिका	93-96
	अध्याय-14	जलवायु और बदलता भारत	97-102
	अध्याय-15	संस्कृति	103-110
भाग-४	**अध्याय-16**	**भारत के 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र–विवरण, मानक व प्रक्रिया**	**111-138**

भाग-५	-	**भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों से संरक्षण की और**	**139-156**
	अध्याय-17	जल ही भू-संस्कृति की धुरी	141-142
	अध्याय 18	पारंपरिक जल ज्ञान	143-146
	अध्याय 19	नदी और सभ्यता	147-148
	अध्याय 20	कृषि और जलवायु परिवर्तन	149-150
	अध्याय 21	लोकज्ञान और आधुनिक विज्ञानं	151-152
	अध्याय 22	संरक्षण में समुदाय की भूमिका	153-154
	-	भाग-५ संकेतिक निष्कर्ष	155-156
भाग-६	**अध्याय 23**	**तरुण भारत संघ का अनुभव**	**157-174**
भाग-७	**-**	**जलवायु परिवर्तन भू-संस्कृतिक भविष्य**	**175-194**
	अध्याय 24	बदलती जलवायु और बदलती संस्कृति	177-182
	अध्याय 25	जलवायु अनुकूलन	183-194
भाग-८	**-**	**भविष्य का भारत**	**195-214**
	अध्याय 26	भू–सांस्कृतिक नियोजन	197-200
	अध्याय 27	ग्राम से राष्ट्र तक	201-202
	अध्याय 28	जल,जंगल, जमीन और जन	203-204
	अध्याय 29	स्थानीय ज्ञान से आत्मनिर्भरता	205-206
	अध्याय 30	पुनर्जनन आधारित विकास	207-208
	अध्याय 31	86-क्षेत्रों से एक भारत	209-214
परिशिष्ट		**सन्लग्नक**	**215-226**
	I.	संदर्भ / पुस्तकें	215 -220
	II.	शब्द-कोष	221-225

भाग–१ :
भारत को नए दृष्टिकोण से समझना

अध्याय-1
विषय-परिचय

1.1 पृष्ठभूमि : भारत को उसकी धरती और संस्कृति के माध्यम से समझने का प्रयास

भारत को समझने के लिए केवल उसके राजनीतिक, प्रशासनिक अथवा राज्य–जिला आधारित मानचित्रों को देखना पर्याप्त नहीं है। भारत की वास्तविक पहचान उसकी धरती, जल, जलवायु, मिट्टी, पर्वत, नदियों, वनों, जैव-विविधता, कृषि-पद्धतियों, आजीविका, लोकज्ञान और सांस्कृतिक परंपराओं के उस गहरे संबंध में निहित है, जिसने हजारों वर्षों में भारतीय समाज और सभ्यता को आकार दिया है।

इसी विचार को आधार बनाकर तरुण भारत संघ के अध्यक्ष, जल-संरक्षण कार्यकर्ता एवं पर्यावरणविद् डॉ. राजेंद्र सिंह ने भारत की प्रकृति और संस्कृति को एक साथ समझने वाले भू-सांस्कृतिक मानचित्र के विकास का कार्य प्रारम्भ किया। लगभग तीन दशकों के अनुभव और देश के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में जल, जंगल, जमीन तथा सामुदायिक जीवन से जुड़े कार्यों के दौरान यह आवश्यकता सामने आई कि भारत की विविधता को केवल प्रशासनिक सीमाओं से नहीं, बल्कि प्राकृतिक संरचनाओं, स्थानीय आजीविका, कृषि, लोकज्ञान और सांस्कृतिक पहचान के पारस्परिक संबंधों के माध्यम से भी समझा जाए।

इस दिशा में तरुण भारत संघ ने भारत के कृषि-जलवायवीय वर्गीकरण, भौतिक भूगोल और स्थानीय समुदायों के अनुभवों का अध्ययन करते हुए एक ऐसे मानचित्र की परिकल्पना विकसित की, जो प्रकृति और संस्कृति के बीच के संबंधों को समग्र रूप में प्रस्तुत कर सके। इसका उद्देश्य प्रचलित राजनीतिक मानचित्र को हटाना नहीं, बल्कि उसके साथ एक ऐसी पूरक दृष्टि प्रदान करना है, जो प्रत्येक क्षेत्र की विशिष्ट प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक पहचान को सामने लाए।

इस प्रयास का केंद्रीय विचार है कि प्रकृति केवल मानव जीवन के उपयोग की वस्तु नहीं है; वह समाज, अर्थव्यवस्था, संस्कृति और सभ्यता के निर्माण का आधार है। जब किसी क्षेत्र की भूमि, जल, जलवायु, कृषि और जैव-विविधता को उसके लोगों की जीवन-पद्धति, परंपराओं और सामुदायिक ज्ञान के साथ समझा जाता है, तभी उस क्षेत्र की वास्तविक पहचान स्पष्ट होती है।

1.2 मानचित्र की अवधारणा से राष्ट्रीय विमर्श तक : 15–16 नवम्बर 2025 की कार्यशाला

भारत के भू-सांस्कृतिक मानचित्र को राष्ट्रीय स्तर पर प्रस्तुत करने, उसकी अवधारणा पर विशेषज्ञों के विचार प्राप्त करने तथा उसके वैज्ञानिक और व्यावहारिक आधार को आगे विकसित करने की दिशा में 15–16 नवम्बर 2025 को नई दिल्ली स्थित इंडियन नेशनल साइंस अकादमी (INSA) में दो दिवसीय राष्ट्रीय विचार-मंथन कार्यशाला आयोजित की गई। यह कार्यशाला तरुण भारत संघ के तत्वावधान में हुई, जिसमें विभिन्न कृषि-जलवायवीय क्षेत्रों से आए प्रतिनिधियों, शिक्षाविदों, वैज्ञानिकों, डिजाइन विशेषज्ञों और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने भाग लिया।

कार्यशाला में डॉ. राजेंद्र सिंह ने भू-सांस्कृतिक मानचित्र की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए इस बात पर बल दिया कि भारत की प्राकृतिक, भौगोलिक, पर्यावरणीय और सांस्कृतिक विविधता को अलग-अलग विषयों के रूप में देखने के बजाय एक समन्वित दृष्टि से समझना आवश्यक है। उन्होंने विकास की उस अवधारणा पर पुनर्विचार की आवश्यकता रेखांकित की, जो मुख्यतः निर्माण, संरचनात्मक विस्तार और आर्थिक वृद्धि पर केंद्रित रही है।

विमर्श का प्रमुख प्रश्न था कि क्या विकास को केवल संसाधनों के उपयोग और आर्थिक विस्तार से परिभाषित किया जाना चाहिए, अथवा उसमें प्रकृति की पुनर्बहाली, सांस्कृतिक निरंतरता, सामुदायिक सहभागिता और स्थानीय आजीविका को भी केंद्रीय स्थान मिलना चाहिए।
कार्यशाला में निम्नलिखित विषयों पर विशेष चर्चा हुई—

1. भारत के 15 कृषि-जलवायवीय क्षेत्रों की व्यापक संरचना को आधार बनाकर स्थानीय प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक विविधता को अधिक सूक्ष्मता से समझना।

2. 50 भौगोलिक-भौतिक इकाइयों और 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों के बीच संबंध स्पष्ट करना।
3. स्थानीय समुदायों के पारंपरिक ज्ञान और आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययन को एक-दूसरे का पूरक बनाना।
4. जल, मिट्टी, कृषि, वन, जैव-विविधता और आजीविका को विकास-नियोजन की एकीकृत इकाइयों के रूप में देखना।
5. भू-सांस्कृतिक मानचित्र की सीमाओं, वर्गीकरण और वैज्ञानिक आधार का विशेषज्ञों द्वारा परीक्षण करना।
6. इस पहल को शिक्षा, शोध, डिजाइन, नीति-निर्माण और स्थानीय विकास की प्रक्रियाओं से जोड़ने की संभावनाओं पर विचार करना।

प्रकाशित कार्यशाला-विवरण के अनुसार, मानचित्र के वैज्ञानिक सत्यापन के लिए एक समिति गठित की गई, जिसकी अध्यक्षता भू-विज्ञानी एवं जय नारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर के कुलपति प्रो. कन्हैयालाल श्रीवास्तव को सौंपी गई। इस समिति में प्रो. राणा प्रताप सिंह और अर्थशास्त्री विजय परांजपे सहित विशेषज्ञों को शामिल किया गया। अवधारणा को आगे विकसित करने तथा विभिन्न शैक्षिक और संस्थागत प्रक्रियाओं से जोड़ने के लिए एक अलग फॉलो-अप समिति भी बनाई गई।

इस कार्यशाला का प्रमुख निष्कर्ष यह था कि भू-सांस्कृतिक मानचित्र को केवल एक तैयार मानचित्र के रूप में प्रस्तुत करने के बजाय एक विकसित होती वैज्ञानिक एवं सामाजिक प्रक्रिया के रूप में आगे बढ़ाया जाना चाहिए। इसके लिए मानचित्र का सत्यापन, क्षेत्रीय ज्ञान का संकलन, विशेषज्ञों का सहयोग और स्थानीय समुदायों की भागीदारी आवश्यक मानी गई।

1.3 भू-सांस्कृतिक मानचित्र की संरचना : 15 → 50 → 86

राष्ट्रीय विमर्श के केंद्र में मानचित्र की तीन परस्पर संबंधित इकाइयाँ रहीं—
15 कृषि-जलवायवीय क्षेत्र → 50 भौगोलिक-भौतिक इकाइयाँ → 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र।

इन तीनों स्तरों का उद्देश्य भारत को व्यापक प्राकृतिक परिस्थितियों से लेकर स्थानीय समाज और संस्कृति तक क्रमशः समझना है।
15 कृषि-जलवायवीय क्षेत्र: वर्षा, तापमान, जलवायु और कृषि से संबंधित व्यापक परिस्थितियों की समझ प्रदान करते हैं।

50 भौगोलिक-भौतिक इकाइयाँ: पर्वत, मैदान, पठार, घाटियाँ, मरुस्थल, तटीय भूभाग और अन्य भौतिक संरचनाओं के आधार पर प्राकृतिक विविधता को अधिक स्पष्ट करती हैं।
86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र: प्राकृतिक परिस्थितियों के साथ स्थानीय भाषा, लोकपरंपरा, भोजन, कृषि-पद्धति, आजीविका, आस्था, सामाजिक व्यवहार और सामुदायिक ज्ञान के संबंधों को समझने का प्रयास करते हैं।

इस प्रकार यह ढाँचा केवल भौगोलिक वर्गीकरण नहीं है। इसका उद्देश्य भारत की प्राकृतिक विविधता को स्थानीय समाज और संस्कृति से जोड़ना तथा इस समझ को संरक्षण और पुनर्जनन-आधारित विकास में उपयोगी बनाना है।

इस अवधारणा को वैज्ञानिक रूप से सुदृढ़ करने के लिए प्रत्येक क्षेत्र की सीमाओं, विशेषताओं और वर्गीकरण के आधार को स्पष्ट करना आवश्यक है। विशेष रूप से व्यापक प्राकृतिक क्षेत्रों और कृषि-जलवायवीय क्षेत्रों के वर्गीकरण के बीच संबंध को मानचित्रों, परिभाषाओं और संदर्भों के माध्यम से स्पष्ट किया जाना चाहिए।

इस विमर्श में यह विचार विशेष रूप से उभरा कि पारंपरिक विकास की अवधारणा को केवल संरचनात्मक विस्तार और आर्थिक वृद्धि तक सीमित रखने के बजाय उसे **पुनर्जनन, संतुलन और प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व** की दिशा में पुनर्परिभाषित किया जाना चाहिए। स्थानीय ज्ञान को आधुनिक विज्ञान के साथ जोड़ना, समुदाय को विकास-निर्णयों में सहभागी बनाना और क्षेत्र-विशिष्ट योजनाओं को बढ़ावा देना इसी सोच के प्रमुख आधार बने।

1.4 11–13 सितम्बर 2026 को हरिजन सेवक संघ, नई दिल्ली में तीन दिवसीय भू-सांस्कृतिक विचार-गोष्ठी

इसी विचार-यात्रा को जन-स्तर तक ले जाने के उद्देश्य से **11–13 सितम्बर 2026 को हरिजन सेवक संघ, नई दिल्ली** में डॉ. राजेंद्र सिंह, जलपुरुष, तरुण भारत संघ द्वारा **तीन दिवसीय भू-सांस्कृतिक विचार-गोष्ठी** आयोजित की गई। इसमें देश के विभिन्न भू-भागों से **200 से अधिक किसान, जल-संरक्षक, ग्रामीण कार्यकर्ता, महिलाएँ, युवा, वैज्ञानिक, शिक्षक, सामाजिक कार्यकर्ता, गांधीवादी-सर्वोदय कार्यकर्ता और**

चिंतक एकत्र हुए। सम्मेलन में स्थानीय ज्ञान, सामुदायिक भागीदारी और प्रकृति के साथ संतुलित विकास को भविष्य की दिशा का आधार बनाने पर सामूहिक चिंतन किया गया।

इस तीन दिवसीय सम्मेलन का **13 सितम्बर 2026 का समापन दिवस** विशेष रूप से महत्वपूर्ण रहा, जब **"जन-घोषणापत्र"** जारी किया गया। इसका मूल मंत्र था—

" धरती बचेगी तो समाज बचेगा; समाज बचेगा तो संस्कृति बचेगी।"

यह मंत्र केवल पर्यावरण संरक्षण का संदेश नहीं है, बल्कि भारत के विकास-दर्शन को एक व्यापक सामाजिक, सांस्कृतिक और पारिस्थितिक दृष्टि से पुनः देखने का आह्वान है।

1.5 जन-घोषणापत्र : प्रमुख संकल्प

1. **धरती, समाज और संस्कृति का अविभाज्य संबंध**
   जन-घोषणापत्र का पहला आधार यह है कि **धरती, समाज और संस्कृति को अलग-अलग नहीं देखा जा सकता।** किसी क्षेत्र की संस्कृति उसकी धरती, जल, जलवायु, कृषि, जैव-विविधता और जीवन-पद्धति से निर्मित होती है। इसलिए विकास की किसी भी योजना का मूल्यांकन केवल आर्थिक लाभ, निवेश या उत्पादन के आधार पर न होकर उसके **सामाजिक, सांस्कृतिक और पर्यावरणीय प्रभावों** के आधार पर भी किया जाना चाहिए।
2. **86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों को गांवों तक ले जाना**
   जन-घोषणापत्र में **86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों** की अवधारणा को गांव, पंचायत, विद्यालय, विश्वविद्यालय और स्थानीय संस्थाओं तक पहुंचाने का संकल्प लिया गया। प्रत्येक क्षेत्र की मिट्टी, जलवायु, जल-व्यवस्था, कृषि, वनस्पति, लोकज्ञान, आजीविका और संस्कृति की विशिष्टताओं को पहचानना तथा उसी के अनुरूप स्थानीय विकास की दिशा निर्धारित करना इसका प्रमुख उद्देश्य है। यहाँ **15 → 50 → 86** का क्रम विशेष महत्व रखता है—
3. **15 कृषि-जलवायवीय क्षेत्र → 50 भौगोलिक-भौतिक क्षेत्र → 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र।**
   अर्थात् 15 हमें जलवायु और कृषि का व्यापक आधार समझाते हैं, 50 धरती के भौतिक स्वरूप और प्राकृतिक तंत्रों को अधिक सूक्ष्मता से समझने में सहायता करते हैं और 86 क्षेत्र उस धरती पर रहने वाले **मनुष्य, समाज, आजीविका और संस्कृति** से जोड़ते हैं।

4. **स्थानीय ज्ञान को "जीवित ज्ञान-संपदा" बनाना**
   किसानों, महिलाओं, ग्रामीण समुदायों, जल-संरक्षकों और सामाजिक कार्यकर्ताओं के अनुभवों को केवल लोक-अनुभव न मानकर **जीवित ज्ञान-संपदा** के रूप में दर्ज करने का संकल्प लिया गया। जल-संरक्षण, नदी-पुनर्जीवन, टिकाऊ कृषि, स्थानीय बीज, पारंपरिक जल-संरचनाओं और ग्राम-विकास के सफल प्रयोगों का दस्तावेजीकरण तथा विभिन्न क्षेत्रों के बीच उनका आदान-प्रदान इस दिशा का महत्वपूर्ण हिस्सा है।
5. **जल, जमीन और खेती को केवल बाजार की वस्तु न मानना**
   जल और जमीन केवल आर्थिक संसाधन नहीं हैं। उनसे **जीवन, श्रम, आजीविका, खाद्य सुरक्षा, सामाजिक संबंध और संस्कृति** जुड़े हैं। इसलिए जल, मिट्टी, बीज, पशुधन, कृषि, श्रम और स्थानीय संस्कृति को एक समग्र प्रणाली के रूप में देखने की आवश्यकता है।
6. **विकास परियोजनाओं का समग्र प्रभाव आकलन**
   बड़ी औद्योगिक परियोजनाओं, डेटा सेंटरों तथा अन्य विकास परियोजनाओं का मूल्यांकन केवल निवेश और आर्थिक वृद्धि से नहीं किया जाना चाहिए। जल, भूमि, खेती, जंगल, जैव-विविधता, स्थानीय समुदाय और भावी पीढ़ियों पर उनके प्रभावों को भी निर्णय-प्रक्रिया का हिस्सा बनाया जाना चाहिए। इसके लिए **विज्ञान + कानून + स्थानीय अनुभव + जनभागीदारी** को एक साथ लाने की आवश्यकता है।
7. **शिक्षा को प्रकृति और संस्कृति से जोड़ना**
   विद्यालय और विश्वविद्यालय केवल पुस्तकीय ज्ञान के केंद्र न रहें, बल्कि विद्यार्थियों को अपने क्षेत्र की **नदी, तालाब, मिट्टी, खेती, जंगल, जैव-विविधता और सांस्कृतिक विरासत** के अध्ययन से जोड़ा जाए। शिक्षा का उद्देश्य केवल "सिर में ज्ञान" नहीं, बल्कि **"सिर में ज्ञान, हाथों में श्रम और मन में संवेदना"** विकसित करना हो।
8. **युवाओं की रचनात्मक भागीदारी**
   युवाओं को केवल भविष्य की पीढ़ी के रूप में नहीं, बल्कि **वर्तमान परिवर्तन के सहभागी** के रूप में देखा जाए। उन्हें शोध, दस्तावेजीकरण, जल-संरक्षण, जैव-विविधता संरक्षण, स्थानीय इतिहास, ग्राम-अध्ययन और रचनात्मक सामाजिक कार्यों से जोड़ा जाए।

9. **विकेंद्रीकृत लोकतंत्र और स्थानीय भागीदारी**
   गांवों और स्थानीय संस्थाओं को प्राकृतिक संसाधनों तथा विकास संबंधी निर्णयों में प्रभावी भागीदारी दी जाए। समुदाय को योजनाओं का केवल लाभार्थी न मानकर **निर्णय, क्रियान्वयन और निगरानी का सहभागी** बनाया जाए।
10. **जल-जंगल-जमीन और जैव-विविधता की रक्षा**
    जल, जंगल, जमीन और जैव-विविधता को जन-जीवन के केंद्रीय विषय के रूप में स्वीकार किया जाए तथा स्थानीय संरक्षण प्रयासों को संस्थागत सहयोग दिया जाए। प्राकृतिक और सांस्कृतिक विरासत को भावी पीढ़ियों तक सुरक्षित पहुंचाना सामूहिक जिम्मेदारी माना जाए।
11. **भू-सांस्कृतिक मानचित्र को जन-उपयोगी बनाना**
    भू-सांस्कृतिक मानचित्र केवल शोध या अकादमिक दस्तावेज न रहकर **स्थानीय विकास, नियोजन, शिक्षा, शोध और जन-जागरूकता का उपकरण** बने। प्रत्येक गांव और पंचायत अपने भू-सांस्कृतिक क्षेत्र की विशेषताओं को समझ सके और उसी आधार पर अपनी विकास-योजना तैयार कर सके।

1.6 जन-घोषणापत्र का मूल दर्शन

इस घोषणापत्र की मूल चेतना को एक क्रम में इस प्रकार समझा जा सकता है—

धरती → जल → कृषि → जैव-विविधता → आजीविका → समाज → संस्कृति → संरक्षण → पुनर्जनन → जलवायु-लचीलापन

यह क्रम बताता है कि पर्यावरण कोई अलग विषय नहीं है। **जल की स्थिति कृषि को प्रभावित करती है; कृषि आजीविका को; आजीविका समाज को; समाज की जीवन-पद्धति संस्कृति को; और संस्कृति प्रकृति के प्रति हमारे व्यवहार को।**

इसलिए पर्यावरणीय संकट का समाधान भी केवल किसी एक विभाग या तकनीक से संभव नहीं होगा। इसके लिए स्थानीय समुदाय, किसान, महिला, युवा, वैज्ञानिक, शिक्षक, नीति-निर्माता और सामाजिक संगठन—सभी को एक साझा मंच पर लाना होगा।

इसी संदर्भ में डॉ. राजेंद्र सिंह और तरुण भारत संघ के जल-संरक्षण अनुभव का महत्व सामने आता है। स्थानीय जल-संरचनाओं, वर्षाजल-संचयन, नदी-पुनर्जीवन और ग्राम-स्तरीय सहभागिता के अनुभव यह संकेत देते हैं कि प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण तब अधिक टिकाऊ बनता है जब समुदाय स्वयं उसकी प्रक्रिया में भागीदार होता है। उपलब्ध सामग्री में तरुण भारत संघ के अनुभव के आधार पर 23 नदियों के पुनर्जीवन और जल, मिट्टी तथा संस्कृति के पारंपरिक वैज्ञानिक आधार को समझने की चर्चा भी की गई है।

दूसरी ओर, पर्यावरणीय चुनौतियों को वैज्ञानिक दृष्टि से समझना भी उतना ही आवश्यक है। जलवायु परिवर्तन, तापवृद्धि, जल-सुरक्षा, जैव-विविधता, हिमनद, आपदा जोखिम, प्रदूषण और प्राकृतिक संसाधनों पर बढ़ते दबाव के अध्ययन में आधुनिक विज्ञान और तकनीक की भूमिका महत्वपूर्ण है। इसलिए **स्थानीय ज्ञान और आधुनिक विज्ञान के बीच संवाद** इस पहल का महत्वपूर्ण आधार बनता है।

1.7 आगे की कार्ययोजना : जन-घोषणापत्र से जन-अभियान तक

13 सितम्बर 2026 को जारी जन-घोषणापत्र को केवल एक दस्तावेज न रहने देकर उसे **कार्य-योजना और जन-अभियान** में परिवर्तित करना अगला स्वाभाविक चरण होना चाहिए। इसके लिए निम्नलिखित चरणबद्ध योजना प्रस्तावित की जा सकती है।

चरण–1 : 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों का डिजिटल एवं जन-सत्यापन

प्रत्येक 86 क्षेत्र के लिए एक **भू-सांस्कृतिक प्रोफाइल** तैयार की जाए, जिसमें—

- प्रमुख नदियां और जल-स्रोत
- मिट्टी और भू-आकृति
- वर्षा एवं जलवायु
- प्रमुख कृषि पद्धतियां
- स्थानीय बीज एवं जैव-विविधता
- पशुधन और आजीविका

- पारंपरिक जल-संरचनाएं
- स्थानीय खाद्य एवं जीवन-पद्धति
- लोककला एवं सांस्कृतिक परंपराएं
- प्रमुख पर्यावरणीय संकट
- सफल स्थानीय संरक्षण प्रयोग

का दस्तावेजीकरण किया जाए।

इसके लिए **भौगोलिक सूचना प्रणाली(GIS), सुदूर संवेदन (Remote Sensing), स्थानीय सर्वेक्षण और सामुदायिक ज्ञान** को एक साथ जोड़ा जा सकता है।

चरण–2 : प्रत्येक क्षेत्र में "भू-सांस्कृतिक अध्ययन मंडल"

प्रत्येक भू-सांस्कृतिक क्षेत्र में स्थानीय स्तर पर एक स्वैच्छिक समूह गठित किया जाए, जिसमें—

किसान + महिला + युवा + शिक्षक + जल-संरक्षक + स्थानीय कारीगर + वैज्ञानिक/तकनीकी विशेषज्ञ + सामाजिक कार्यकर्ता

शामिल हों।

यह मंडल अपने क्षेत्र की प्राकृतिक और सांस्कृतिक संपदा का दस्तावेजीकरण करे और स्थानीय समस्याओं के समाधान के लिए छोटे-छोटे प्रयोग आरंभ करे।

चरण–3 : "एक क्षेत्र–एक अध्ययन" कार्यक्रम

विद्यालयों और विश्वविद्यालयों को प्रत्येक वर्ष किसी एक स्थानीय भू-सांस्कृतिक क्षेत्र के अध्ययन से जोड़ा जाए।

विद्यार्थी अपने क्षेत्र की—

नदी, तालाब, मिट्टी, खेती, जैव-विविधता, लोकज्ञान और संस्कृति

का अध्ययन करें और उसका डिजिटल दस्तावेज तैयार करें।

इससे भू-सांस्कृतिक मानचित्र केवल विशेषज्ञों का दस्तावेज न रहकर **नई पीढ़ी का जीवंत शैक्षिक उपकरण** बन सकेगा। उपलब्ध कार्यशाला में विद्यार्थियों द्वारा तैयार किए गए भू-सांस्कृतिक मानचित्र तथा परियोजना-आधारित अध्ययन को इसी दिशा में उपयोगी उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाय, जिससे भारतीय संस्कृति, विज्ञान व प्राकृतिक विरासत के समन्वित अध्ययन से विद्यार्थियों में स्थानीय भूगोल, पर्यावरण संरक्षण,

पारंपरिक ज्ञान और सांस्कृतिक विविधता के प्रति समझ विकसित की जा सकती है।

चरण–4 : "जल–जमीन–जैव-विविधता" ग्राम अभियान

चयनित गांवों में स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार तीन प्राथमिक कार्य लिए जाएं—

1. **जल-स्रोत पुनर्जीवन**
2. **मिट्टी और कृषि संरक्षण**
3. **स्थानीय जैव-विविधता संरक्षण**

प्रत्येक गांव के लिए पहले आधारभूत अध्ययन (Baseline Study) तथा बाद में वार्षिक प्रगति प्रतिवेदन (Annual Progress Report) तैयार की जाए।

चरण–5 : स्थानीय ज्ञान का राष्ट्रीय डिजिटल भंडार

किसानों, महिलाओं और ग्रामीण समुदायों के अनुभवों का **"भारत जीवित ज्ञान-संपदा डिजिटल भंडार"** बनाया जा सकता है।

इसमें ऑडियो, वीडियो, फोटो, स्थानीय भाषाओं के विवरण और वैज्ञानिक टिप्पणियां शामिल हों। इससे एक क्षेत्र का सफल प्रयोग दूसरे क्षेत्र तक पहुंच सकेगा।

चरण–6 : विज्ञान–समाज संवाद मंच

हर छह महीने में क्षेत्रीय स्तर पर **"भू-संस्कृति संवाद"** आयोजित किए जाएं, जिनमें वैज्ञानिक और स्थानीय समुदाय एक साथ बैठें।

विषय हो सकते हैं—

- जलवायु परिवर्तन और स्थानीय अनुकूलन
- जल-सुरक्षा
- टिकाऊ कृषि
- जैव-विविधता
- नदी और जलागम पुनर्जीवन
- आपदा जोखिम न्यूनीकरण
- ग्रामीण अर्थव्यवस्था
- पारंपरिक ज्ञान और आधुनिक तकनीक

चरण–7 : नीति एवं नियोजन में उपयोग

भू-सांस्कृतिक मानचित्र को धीरे-धीरे **ग्राम पंचायत, जिला नियोजन, विश्वविद्यालय शोध, पर्यावरणीय अध्ययन और स्थानीय विकास योजनाओं** के संदर्भ-दस्तावेज के रूप में उपयोग करने की दिशा में काम किया जाए।

इससे विकास-निर्णय लेते समय यह प्रश्न सामने आए—

"इस क्षेत्र की धरती, जल, समाज और संस्कृति की वह कौन-सी विशेषता है जिसे विकास योजना को बचाना और मजबूत करना चाहिए?"

1.8 2030 की ओर प्रस्तावित दृष्टि

इस पहल के लिए वर्ष **2030 तक की एक दीर्घकालीन दृष्टि** भी विकसित की जा सकती है—

2026–27 : 86 क्षेत्रों का सत्यापन, दस्तावेजीकरण और डिजिटल आधार तैयार करना।

2027–28 : चयनित क्षेत्रों में ग्राम-स्तरीय पायलट परियोजनाएं और स्थानीय ज्ञान-संग्रह।

2028–29 : विश्वविद्यालयों, विद्यालयों और शोध संस्थानों के साथ भू-सांस्कृतिक अध्ययन नेटवर्क बनाना।

2029–30 : सफल मॉडलों का क्षेत्रीय विस्तार और नीति-निर्माताओं के लिए संकलित नीति-दस्तावेज तैयार करना।

इस पूरी प्रक्रिया में प्रगति को केवल कितने कार्यक्रम हुए, इससे नहीं बल्कि कितने जल-स्रोत पुनर्जीवित हुए, कितने स्थानीय ज्ञान-दस्तावेज बने, कितने युवाओं और समुदायों की भागीदारी हुई, कितने क्षेत्रों में जैव-विविधता एवं कृषि संरक्षण के परिणाम आए और कितनी योजनाओं में स्थानीय ज्ञान का उपयोग हुआ—इन संकेतकों से भी मापा जाना चाहिए।

1.9 समापन : जन-घोषणापत्र से भू-सांस्कृतिक पुनर्जागरण तक

11–13 सितम्बर 2026 की तीन दिवसीय विचार-गोष्ठी और 13 सितम्बर को जारी जन-घोषणापत्र को, 15–16 नवम्बर 2025 के इन्सा (INSA) विमर्श की अगली कड़ी के रूप में देखा जा सकता है। एक ओर 2025 का विमर्श **भू**-सांस्कृतिक मानचित्र की वैचारिक और वैज्ञानिक समझ को मजबूत करता है,

वहीं 2026 का जन-सम्मेलन इस विचार को जनभागीदारी, स्थानीय ज्ञान और सामाजिक संकल्प से जोड़ता है।

अब अगला चरण इस विचार को जन-अभियान, शैक्षिक कार्यक्रम, वैज्ञानिक शोध, ग्राम-स्तरीय प्रयोग और नीति-संवाद में परिवर्तित करने का है।

इस पहल का अंतिम संदेश केवल पर्यावरण संरक्षण तक सीमित नहीं है। यह भारत को उसकी वास्तविक भू-सांस्कृतिक विविधता के साथ समझने का प्रयास है—

- भूगोल को समझेंगे तो संस्कृति को समझेंगे।
- संस्कृति को समझेंगे तो प्रकृति से मनुष्य का संबंध समझेंगे।
- प्रकृति से संबंध समझेंगे तो संरक्षण की आवश्यकता समझेंगे।
- संरक्षण को विज्ञान, लोकज्ञान और जनभागीदारी से जोड़ेंगे तो पुनर्जनन का मार्ग खुलेगा, और
- पुनर्जनन को विकास से जोड़ेंगे तो एक सतत, सुरक्षित और जलवायु-लचीले भारत की नींव मजबूत होगी।

और इसी समग्र दृष्टि का केंद्रीय संकल्प है—

"धरती बचेगी तो समाज बचेगा; समाज बचेगा तो संस्कृति बचेगी।

यही जन-घोषणापत्र का संदेश है और यही "**भारत का भू-सांस्कृतिक मानचित्र : एक नई पहल**" को एक मानचित्र से आगे बढ़ाकर भारत के प्रकृति–समाज–संस्कृति आधारित पुनर्जनन की दिशा में एक व्यापक जन-पहल बनाने की संभावित आधारभूमि है।

अध्याय-2
भारत : केवल राजनीतिक मानचित्र नहीं

2.1 भारत को देखने की पहली दृष्टि

भारत का राजनीतिक मानचित्र हमें एक ऐसे राष्ट्र का परिचय देता है जिसकी निश्चित संवैधानिक और प्रशासनिक सीमाएँ हैं। राज्य, केंद्रशासित प्रदेश, जिले, मंडल, तहसील और ग्राम—ये सभी शासन और प्रशासन की आवश्यक इकाइयाँ हैं। इनके माध्यम से कानून लागू होते हैं, विकास योजनाएँ बनती हैं और नागरिक सेवाएँ संचालित होती हैं। लेकिन भारत का वास्तविक स्वरूप इन प्रशासनिक रेखाओं से कहीं अधिक व्यापक है।

मानचित्र पर खींची गई एक रेखा दो राज्यों को अलग कर सकती है, परंतु वह किसी नदी के प्रवाह को नहीं रोक सकती। वह पर्वत की भौगोलिक निरंतरता को समाप्त नहीं कर सकती। वह वर्षा के बाद भूमिगत जल के प्रवाह की दिशा नहीं बदल सकती। वह पक्षियों और वन्यजीवों के प्राकृतिक आवागमन को नियंत्रित नहीं कर सकती और न ही किसी सांस्कृतिक परंपरा को प्रशासनिक सीमा में बाँध सकती है। इसलिए भारत को समझने के लिए केवल राजनीतिक भूगोल पर्याप्त नहीं है। इसके साथ **प्राकृतिक भूगोल, सांस्कृतिक भूगोल, सामाजिक जीवन और पारिस्थितिकी** को भी समझना होगा।

2.2 प्रशासनिक भारत और प्राकृतिक भारत

भारत की प्रशासनिक व्यवस्था मनुष्य द्वारा बनाई गई व्यवस्था है। इसके विपरीत पर्वत, नदी, वन, समुद्र, मिट्टी और जलवायु प्राकृतिक प्रक्रियाओं से निर्मित हैं। इसे एक सरल उदाहरण से समझा जा सकता है।

गंगा का प्रवाह उत्तराखंड से निकलकर उत्तर प्रदेश, बिहार और पश्चिम बंगाल से होते हुए समुद्र तक पहुँचता है। नदी के लिए राज्य की सीमा केवल मानचित्र की एक प्रशासनिक रेखा है; उसके लिए पूरा नदी-तंत्र एक सतत प्राकृतिक प्रणाली है।

इसी प्रकार हिमालय उत्तराखंड, हिमाचल प्रदेश, सिक्किम, अरुणाचल प्रदेश तथा पड़ोसी देशों तक फैली एक विशाल पर्वतीय प्रणाली है। उसके जल, हिमनद, जैव-विविधता और भू-आकृतिक प्रक्रियाएँ किसी एक प्रशासनिक इकाई तक सीमित नहीं हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि—
प्रशासनिक सीमा शासन की इकाई है, जबकि पारिस्थितिक सीमा प्रकृति की इकाई है।
भारत की दीर्घकालिक विकास-नीति के लिए दोनों को समझना आवश्यक है।

2.3 जल : प्रशासनिक सीमा से परे जीवन का आधार

भारत की सभ्यता का विकास जल के आसपास हुआ है। नदियाँ, तालाब, कुएँ, बावड़ियाँ, झीलें और जलाशय केवल प्राकृतिक संसाधन नहीं रहे; वे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के केंद्र भी रहे हैं। तरुण भारत संघ. डॉ. राजेंद्र सिंह के कार्यों की जल-संरक्षण दृष्टि का महत्वपूर्ण संदेश यही है कि जल-संकट का समाधान केवल बड़े तकनीकी ढाँचों में नहीं, बल्कि **स्थानीय जलग्रहण क्षेत्र, पारंपरिक जल संरचनाओं और समुदाय की भागीदारी** में भी खोजा जाना चाहिए।

जोहड़ जैसे स्थानीय जल-संचयन उपायों का अनुभव यह दिखाता है कि वर्षाजल को स्थानीय स्तर पर रोकना, भूजल पुनर्भरण बढ़ाना और सामुदायिक सहभागिता को जोड़ना ग्रामीण पर्यावरण और अर्थव्यवस्था में सकारात्मक परिवर्तन ला सकता है।

इससे एक व्यापक सिद्धांत सामने आता है—
जल का संरक्षण केवल जल विभाग का विषय नहीं; यह समाज, कृषि, अर्थव्यवस्था, संस्कृति और पर्यावरण का साझा विषय है।

2.4 प्रकृति प्रशासनिक आदेशों से स्वतंत्र है

प्रकृति की एक विशेषता यह है कि वह प्रशासनिक सीमाओं को नहीं मानती।

वर्षा एक जिले में होती है और उसका जल दूसरे जिले की नदी में पहुँच सकता है। पहाड़ पर हुई भारी वर्षा मैदानी क्षेत्र में बाढ़ का कारण बन सकती है। किसी ऊपरी जलग्रहण क्षेत्र में वनों की कमी का प्रभाव नीचे के कृषि क्षेत्रों में दिखाई दे सकता है।

इसी प्रकार वायु प्रदूषण, धूल, तापमान वृद्धि और जलवायु परिवर्तन की प्रक्रियाएँ भी सीमाओं से परे जाती हैं। इसलिए भविष्य की पर्यावरणीय योजना में केवल प्रशासनिक इकाई को आधार बनाना पर्याप्त नहीं होगा। **जलागम क्षेत्र, नदी घाटी, पर्वतीय पारिस्थितिकी क्षेत्र, वन-परिदृश्य और तटीय क्षेत्र** जैसी प्राकृतिक इकाइयों को भी योजना का आधार बनाना होगा।

2.5 पर्यावरणीय एवं वैज्ञानिक दृष्टि

प्रो. (डॉ.) भरत राज सिंह व अन्य लेखकों की पर्यावरणीय एवं वैज्ञानिक दृष्टि में ऊर्जा, जलवायु, हिमनद, पर्यावरण संरक्षण और सतत विकास परस्पर जुड़े विषय हैं। उनकी दृष्टि से किसी भी प्राकृतिक प्रणाली का अध्ययन केवल उसके वर्तमान स्वरूप से नहीं, बल्कि उसके **दीर्घकालिक परिवर्तन, ऊर्जा-प्रवाह, जल-चक्र और मानव हस्तक्षेप** के संदर्भ में किया जाना चाहिए।

उदाहरण के लिए हिमालय को केवल पर्यटन अथवा पर्वतीय भूभाग के रूप में देखना पर्याप्त नहीं है। यह जल-सुरक्षा, जलवायु, जैव-विविधता और आपदा-जोखिम की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण प्रणाली है। इसी प्रकार अरावली को केवल खनिज अथवा भू-भाग के रूप में देखना उसके व्यापक पर्यावरणीय महत्व को कम कर देता है। पर्वत जल-संचयन, भूजल पुनर्भरण, जैव-विविधता और स्थानीय जलवायु में भूमिका निभाते हैं।

इसलिए वैज्ञानिक दृष्टि हमें यह सिखाती है कि किसी प्राकृतिक इकाई का मूल्यांकन उसके **समग्र पारिस्थितिक कार्य** के आधार पर किया जाना चाहिए।

2.6 भारत का सांस्कृतिक मानचित्र

भारत की पहचान केवल राज्यों की सीमाओं से नहीं बनती। भारत का एक व्यापक सांस्कृतिक मानचित्र भी है। यह मानचित्र नदियों, तीर्थों, लोकपर्वों, कृषि-परंपराओं, लोककलाओं, भाषाओं, वन-आधारित जीवन, पर्वतीय संस्कृतियों और समुद्री परंपराओं से निर्मित हुआ है।

किसी नदी के किनारे विकसित सभ्यता को उस नदी से अलग करके नहीं समझा जा सकता। किसी पर्वतीय समुदाय की संस्कृति को उस पर्वत, उसकी जलवायु और उसके वन-संसाधनों से अलग करके नहीं समझा जा सकता।
इसलिए—

भूगोल संस्कृति को प्रभावित करता है और संस्कृति भूगोल के संरक्षण को प्रभावित करती है।

यही संबंध भू-सांस्कृतिक दृष्टिकोण का आधार है।

2.7 निष्कर्ष

भारत को केवल राजनीतिक सीमाओं से समझना उसके बहुआयामी स्वरूप को सीमित कर देना होगा।
भारत एक साथ—

- राजनीतिक भारत,
- भौगोलिक भारत,
- पारिस्थितिक भारत,
- सांस्कृतिक भारत और
- सभ्यतागत भारत

है।

इसलिए विकास की ऐसी दृष्टि आवश्यक है जिसमें प्रशासनिक सीमाओं के साथ प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक सीमाओं को भी समझा जाए। **राजनीतिक मानचित्र शासन का ढाँचा बताता है; भू-सांस्कृतिक मानचित्र भारत के जीवन का संबंध बताता है।**

अध्याय-3
भूगोल और संस्कृति का संबंध
धरती और मानव सभ्यता का पारस्परिक विकास

3.1 भूगोल केवल भूमि नहीं है
भूगोल को अक्सर पर्वत, मैदान, नदियों, जलवायु और मिट्टी के अध्ययन के रूप में समझा जाता है। लेकिन मानव सभ्यता के संदर्भ में भूगोल इससे कहीं अधिक है।
मनुष्य जिस भूमि पर रहता है, वही भूमि उसके—
- भोजन,
- आवास,
- रोजगार,
- परिवहन,
- सामाजिक संगठन,
- धार्मिक विश्वास,
- कला,
- लोकगीत,
- कृषि-पद्धति

को प्रभावित करती है।
इसलिए मानव संस्कृति को उसके भूगोल से अलग करके देखना कठिन है।

3.2 धरती ने सभ्यता को आकार दिया
मानव सभ्यता का प्रारंभ उन स्थानों पर अधिक विकसित हुआ जहाँ जल और भोजन की उपलब्धता अपेक्षाकृत अनुकूल थी।
नदियों के किनारे कृषि विकसित हुई। कृषि के साथ स्थायी बस्तियाँ बनीं। बस्तियों के साथ सामाजिक संगठन विकसित हुए। फिर व्यापार, शिल्प, नगर और राज्य विकसित हुए।
इस प्रकार एक क्रम दिखाई देता है—
प्रकृति → संसाधन → कृषि → बस्ती → समाज → संस्कृति → सभ्यता

भारत में सिंधु-सरस्वती क्षेत्र, गंगा का मैदान, दक्कन का पठार और तटीय क्षेत्र इसके अलग-अलग उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

3.3 जल और भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति में जल का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। गंगा, यमुना, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, ब्रह्मपुत्र जैसी नदियाँ केवल जल-प्रवाह नहीं हैं। उनसे धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक परंपराएँ जुड़ी हुई हैं।

ग्राम्य भारत में तालाब और कुएँ भी सामुदायिक जीवन के केंद्र रहे हैं। अनेक स्थानों पर तालाब के साथ मंदिर, घाट, मेले और स्थानीय सामाजिक गतिविधियाँ विकसित हुईं।

इस प्रकार जल संरचना केवल इंजीनियरिंग संरचना नहीं रही; वह **सांस्कृतिक संस्था** भी बन गई। यहीं डॉ. राजेंद्र सिंह और तरुण भारत संघ की दृष्टि विशेष महत्व रखती है। जलस्रोत के पुनर्जीवन के साथ जब समुदाय का संबंध पुनर्जीवित होता है, तो संरक्षण केवल सरकारी कार्यक्रम नहीं रहता—वह सामाजिक दायित्व बन सकता है।

3.4 जल-संरक्षण से सामाजिक पुनर्निर्माण

तरुण भारत संघ के अनुभव से यह विचार सामने आता है कि जल-संरक्षण का प्रभाव केवल जल तक सीमित नहीं रहता। जब किसी गाँव में जल उपलब्धता सुधरती है, तो संभावित रूप से—

- कृषि को स्थिरता मिल सकती है,
- पशुपालन को सहायता मिल सकती है,
- रोजगार के स्थानीय अवसर बढ़ सकते हैं,
- पलायन का दबाव कम हो सकता है,
- सामुदायिक सहयोग मजबूत हो सकता है।

अर्थात् **जल संरक्षण सामाजिक पुनर्निर्माण का माध्यम भी बन सकता है।**

यहाँ संस्कृति और पर्यावरण के बीच एक महत्वपूर्ण संबंध दिखाई देता है।

3.5 पर्वत और पर्वतीय संस्कृति

पर्वतीय भूगोल मानव जीवन की विशेष परिस्थितियाँ निर्मित करता है।

ढाल, ऊँचाई, तापमान, वर्षा, बर्फ और सीमित कृषि-भूमि के कारण पर्वतीय समुदायों ने विशिष्ट जीवन-पद्धतियाँ विकसित कीं।
पारंपरिक घरों की संरचना, कृषि की सीढ़ीनुमा पद्धति, पशुपालन, स्थानीय वनस्पतियों का उपयोग और लोकगीत—इन सभी पर पर्वतीय पर्यावरण की छाप दिखाई देती है।
हिमालय इसलिए केवल एक भौगोलिक संरचना नहीं; वह अनेक विशिष्ट सांस्कृतिक संसारों का आधार है।

3.6 अरावली और मरुस्थलीय क्षेत्र

राजस्थान और पश्चिमी भारत में जल की कमी ने मानव समाज को जल-संरक्षण की विशिष्ट तकनीकें विकसित करने के लिए प्रेरित किया। टांका, कुएँ, बावड़ी, तालाब और अन्य स्थानीय प्रणालियाँ इस बात का उदाहरण हैं कि समाज अपनी प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुसार तकनीक और संस्कृति विकसित करता है। यहाँ से एक महत्वपूर्ण बात समझ आती है—
स्थानीय संस्कृति अक्सर स्थानीय पारिस्थितिकी का उत्तर होती है।

यदि हम ऐसी परंपराओं को केवल "पुरानी तकनीक" मानकर छोड़ देंगे, तो संभव है कि हम जलवायु-अनुकूलन के महत्वपूर्ण स्थानीय ज्ञान को भी खो दें।

3.7 समुद्र और तटीय संस्कृति

भारत की लंबी समुद्री तटरेखा ने भी विशिष्ट संस्कृतियों को जन्म दिया। मछली पालन, समुद्री व्यापार, नौकायन, तटीय कृषि, समुद्री भोजन, बंदरगाह और समुद्र से जुड़े धार्मिक-सांस्कृतिक आयोजन तटीय जीवन के महत्वपूर्ण हिस्से हैं। लेकिन समुद्र-स्तर वृद्धि, चक्रवात, तटीय क्षरण और समुद्री पारिस्थितिकी में परिवर्तन तटीय समुदायों के भविष्य को प्रभावित कर सकते हैं। इसलिए तटीय संस्कृति का संरक्षण भी तटीय पारिस्थितिकी के संरक्षण से जुड़ा हुआ है।

3.8 संस्कृति भी प्रकृति को प्रभावित करती है

संबंध केवल एक दिशा में नहीं है। जिस प्रकार भूगोल संस्कृति को प्रभावित करता है, उसी प्रकार संस्कृति भी पर्यावरण को प्रभावित करती है। यदि समाज किसी वन को पवित्र मानता है, तो उसके संरक्षण की सामाजिक संभावना बढ़ सकती है। यदि किसी तालाब को सामुदायिक धरोहर माना जाता है, तो उसकी सफाई और संरक्षण के लिए सामूहिक प्रयास विकसित

हो सकते हैं। इसके विपरीत यदि प्राकृतिक संसाधनों को केवल आर्थिक वस्तु के रूप में देखा जाता है, तो अत्यधिक दोहन की संभावना बढ़ सकती है। इसलिए संस्कृति पर्यावरणीय व्यवहार को आकार देने वाली महत्वपूर्ण शक्ति है।

3.9 परंपरा और आधुनिक विज्ञान का संवाद

आज यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि क्या पारंपरिक ज्ञान और आधुनिक विज्ञान एक-दूसरे के विरोधी हैं? आवश्यक नहीं।
आधुनिक विज्ञान माप, मॉडल, उपग्रह, सेंसर, डेटा और गणितीय विश्लेषण प्रदान करता है। स्थानीय समुदाय क्षेत्र की वास्तविक परिस्थितियों, मौसम के स्थानीय संकेतों, जलधाराओं, मिट्टी और पारंपरिक संसाधन-प्रबंधन का अनुभव प्रदान कर सकते हैं।

दोनों का संयोजन अधिक प्रभावी हो सकता है।

स्थानीय ज्ञान + वैज्ञानिक ज्ञान = अधिक समग्र पर्यावरणीय समझ

प्रो. (डॉ.) भरत राज सिंह की वैज्ञानिक दृष्टि के संदर्भ में यह विशेष रूप से महत्वपूर्ण है कि पर्यावरणीय निर्णय केवल भावनात्मक या परंपरागत आधार पर नहीं, बल्कि **मापनीय वैज्ञानिक प्रमाण** के आधार पर भी लिए जाएँ।

3.10 जलवायु परिवर्तन : बदलता भूगोल, बदलती संस्कृति

जलवायु परिवर्तन भूगोल और संस्कृति के संबंध को नई चुनौती दे रहा है। यदि किसी क्षेत्र में वर्षा की मात्रा या उसका समय बदलता है, तो कृषि-पद्धति बदल सकती है। यदि तापमान बढ़ता है, तो फसल चयन प्रभावित हो सकता है। यदि हिमनदों और बर्फ के पैटर्न में परिवर्तन होता है, तो पर्वतीय जल-प्रणाली प्रभावित हो सकती है। इस प्रकार जलवायु परिवर्तन केवल पर्यावरणीय समस्या नहीं; यह **सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तन की चुनौती** भी है।

3.11 भारत के लिए भू-सांस्कृतिक शिक्षा

विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में भारत को केवल राज्यों की राजधानियों, नदियों, पर्वतों और भौगोलिक इकाइयों की सूची के रूप में पढ़ाना पर्याप्त

नहीं होगा। शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थियों को भूगोल और संस्कृति के बीच गहरे संबंधों को समझने तथा उनके पारस्परिक प्रभावों का विश्लेषण करने में सक्षम बनाना भी होना चाहिए।

विद्यार्थियों को यह भी समझना चाहिए कि—

- नदी और सभ्यता का क्या संबंध है तथा नदी-तटों पर बस्तियों का विकास कैसे हुआ?
- पर्वत और संस्कृति का क्या संबंध है तथा भौगोलिक परिस्थितियाँ स्थानीय परंपराओं को कैसे प्रभावित करती हैं?
- जलवायु कृषि, फसल विविधता और स्थानीय आजीविका को किस प्रकार प्रभावित करती है?
- स्थानीय वास्तुकला और निर्माण सामग्री का चयन भौगोलिक परिस्थितियों से कैसे जुड़ा है?
- पारंपरिक जल-संरचनाएँ स्थानीय जलवायु और जल-आवश्यकताओं के अनुरूप क्यों विकसित हुईं?
- किसी क्षेत्र का भोजन उसकी जलवायु, कृषि, उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों और सांस्कृतिक परंपराओं से कैसे जुड़ा है?

इस प्रकार की भू-सांस्कृतिक शिक्षा विद्यार्थियों को भारत की प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक विविधता को अधिक गहराई से समझने में सहायता करेगी। साथ ही, यह उनमें स्थानीय पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता, पारंपरिक ज्ञान के प्रति सम्मान और प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण की भावना विकसित कर सकती है।

3.12 निष्कर्ष

धरती केवल मानव सभ्यता का मंच नहीं है, बल्कि वह उसके निर्माण और विकास की एक सक्रिय सह-निर्माता भी है। इसी प्रकार मनुष्य केवल प्रकृति का उपभोक्ता नहीं, बल्कि अपने सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कार्यों के माध्यम से उसे प्रभावित करने वाला प्रमुख घटक भी है। प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग, कृषि प्रणालियाँ, बस्तियों का विकास और सांस्कृतिक परंपराएँ इसी पारस्परिक संबंध की अभिव्यक्तियाँ हैं।

इसलिए—भूगोल संस्कृति को आकार देता है और संस्कृति भूगोल के प्रति मनुष्य के व्यवहार को दिशा देती है।

यही पारस्परिक संबंध भारत की भू-सांस्कृतिक पहचान का मूल आधार है। इसे समझना न केवल भारत की विविधता को जानने के लिए आवश्यक है, बल्कि प्रकृति के संरक्षण, स्थानीय ज्ञान के संवर्धन और सतत विकास की दिशा में आगे बढ़ने के लिए भी महत्वपूर्ण है।



अध्याय-4

भू-सांस्कृतिक दृष्टि की आवश्यकता

क्यों केवल राज्य और जिले, भारत की विविधता को पूरी तरह नहीं समझा सकते?

4.1 प्रश्न की शुरुआत

यदि भारत को केवल प्रशासनिक इकाइयों में बाँटकर समझा जाए तो हमारे सामने राज्य और जिले दिखाई देंगे। लेकिन यदि प्रश्न किया जाए—

- **भारत की नदियाँ कहाँ से आती हैं?**
- **उनका जल किन क्षेत्रों को जोड़ता है?**
- **कौन-सी पर्वतमालाएँ किन संस्कृतियों को प्रभावित करती हैं?**
- **कौन-से वन कितने समुदायों के जीवन का आधार हैं?**
- **कौन-सी परंपराएँ किसी विशेष भूगोल से उत्पन्न हुई हैं?**

तो केवल राज्य और जिले पर्याप्त उत्तर नहीं देते। यहीं से **भू-सांस्कृतिक दृष्टि** की आवश्यकता उत्पन्न होती है।

4.2 राज्य आवश्यक हैं, लेकिन पर्याप्त नहीं

राज्य आधुनिक शासन की आवश्यक इकाइयाँ हैं। उनके बिना प्रशासन, कानून, बजट और विकास योजनाओं को व्यवस्थित करना कठिन होगा। लेकिन किसी राज्य के भीतर भी अनेक भौगोलिक और सांस्कृतिक क्षेत्र हो सकते हैं।

एक ही राज्य में—

- पर्वतीय क्षेत्र,
- मैदानी क्षेत्र,
- वन क्षेत्र,
- नदी घाटियाँ,
- शुष्क क्षेत्र,
- तटीय क्षेत्र

हो सकते हैं। इनकी आवश्यकताएँ समान नहीं होतीं। इसलिए राज्य-स्तरीय नीति के साथ **क्षेत्र-विशिष्ट नीति** की आवश्यकता होती है।

4.3 जिला : प्रशासनिक इकाई, प्राकृतिक इकाई नहीं

जिला प्रशासन के लिए महत्वपूर्ण है, लेकिन अधिकांश प्राकृतिक प्रक्रियाओं के लिए जिला कोई स्वाभाविक सीमा नहीं है। एक जलग्रहण क्षेत्र अनेक जिलों में फैल सकता है। एक वन्यजीव गलियारा अनेक प्रशासनिक क्षेत्रों को जोड़ सकता है। एक नदी घाटी कई राज्यों से होकर गुजर सकती है। यदि प्रत्येक जिला अपने संसाधनों का प्रबंधन अलग-अलग करेगा और पड़ोसी जिले से उसका समन्वय नहीं होगा, तो प्राकृतिक प्रणाली का समग्र प्रबंधन कठिन हो सकता है।

इसलिए **जिला-आधारित प्रशासन के साथ भू-दृश्य स्तर पर समन्वय (landscape-level coordination)** आवश्यक है।

4.4 नदी घाटी को विकास की इकाई मानने का विचार

नदी को उसके पूरे जलग्रहण क्षेत्र के साथ समझना अधिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण हो सकता है।

नदी के ऊपरी भाग में—

- वनों की स्थिति,
- वर्षा,
- भूमि उपयोग,
- मिट्टी का कटाव

नीचे के क्षेत्र में—

- बाढ़,
- जल उपलब्धता,
- गाद,
- भूजल

को प्रभावित कर सकते हैं।

इसलिए नदी घाटी प्रबंधन में ऊपर और नीचे के क्षेत्रों के बीच संबंध समझना आवश्यक है।

यहाँ तरुण भारत संघ का जलागम-आधारित सामुदायिक अनुभव और आधुनिक जल-विज्ञान एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं।

4.5 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र क्या है?

भू-सांस्कृतिक क्षेत्र वह क्षेत्र है जहाँ—

भूगोल + पारिस्थितिकी + मानव समुदाय + इतिहास + संस्कृति

एक-दूसरे से गहराई से जुड़े हों।

उदाहरण के लिए किसी नदी घाटी को केवल प्रशासनिक क्षेत्र नहीं, बल्कि—

- नदी,
- सहायक नदियाँ,
- कृषि,
- बस्तियाँ,
- धार्मिक स्थल,
- लोक-संस्कृति,
- आर्थिक गतिविधियाँ

के संयुक्त क्षेत्र के रूप में देखा जा सकता है।

इसी प्रकार किसी पर्वतीय क्षेत्र को केवल जिलों की सूची के बजाय उसके संपूर्ण **पर्वतीय पारिस्थितिकी और सांस्कृतिक परिदृश्य** के रूप में देखा जा सकता है।

4.6 भारत के संभावित भू-सांस्कृतिक क्षेत्र

भारत के लिए एक भू-सांस्कृतिक मानचित्र तैयार करते समय अनेक प्रकार की प्राकृतिक-सांस्कृतिक इकाइयाँ विकसित की जा सकती हैं, जैसे—

हिमालयी भू-सांस्कृतिक क्षेत्र

पर्वत, हिमनद, नदियाँ, वन, पर्वतीय समुदाय और तीर्थ-परंपराएँ।

गंगा मैदानी भू-सांस्कृतिक क्षेत्र

नदी, कृषि, घनी आबादी, नगर, तीर्थ और ऐतिहासिक सभ्यताएँ।

अरावली भू-सांस्कृतिक क्षेत्र

पर्वत, जलग्रहण, शुष्क क्षेत्र, खनिज, वन और मरुस्थलीय संक्रमण क्षेत्र।

पश्चिमी घाट भू-सांस्कृतिक क्षेत्र

अत्यधिक जैव-विविधता, वर्षा, वन और तटीय संस्कृति।

दक्कन भू-सांस्कृतिक क्षेत्र

पठार, कृषि, प्रायद्वीपीय नदियाँ और विशिष्ट लोक-संस्कृतियाँ।

तटीय भू-सांस्कृतिक क्षेत्र

समुद्र, मैंग्रोव, मछली पालन, बंदरगाह, समुद्री व्यापार और तटीय संस्कृति।

यह विभाजन प्रशासनिक सीमाओं को समाप्त करने के लिए नहीं, बल्कि उनके साथ एक अतिरिक्त **प्राकृतिक-सांस्कृतिक परत** जोड़ने के लिए है।

4.7 भू-सांस्कृतिक दृष्टि और आपदा प्रबंधन

आपदाएँ प्रशासनिक सीमाओं का सम्मान नहीं करतीं। बाढ़, भूस्खलन, भूकंप, चक्रवात, सूखा और हिमनदीय झील के फटने जैसी घटनाएँ व्यापक क्षेत्र को प्रभावित कर सकती हैं। विशेषकर हिमालय में किसी क्षेत्र के जोखिम का आकलन करते समय केवल जिले की सीमा देखना पर्याप्त नहीं होगा। पर्वतीय ढाल, जलग्रहण क्षेत्र, नदी-प्रवाह, भूकंपीय सक्रियता और भूमि उपयोग को एक साथ देखना होगा।

प्रो. (डॉ.) भरत राज सिंह व लेखकों की पर्यावरणीय विवेचना के संदर्भ में आधुनिक निगरानी तकनीकों—जैसे उपग्रह रिमोट सेंसिंग, GNSS/DGPS, स्वचालित मौसम केंद्र, वर्षा मापन, नदी-स्तर निगरानी, ड्रोन सर्वेक्षण और ढाल-गतिशीलता सेंसर—को स्थानीय ज्ञान के साथ जोड़ा जा सकता है। इससे **पूर्व चेतावनी आधारित आपदा प्रबंधन** अधिक प्रभावी बनाया जा सकता है।

4.8 भू-सांस्कृतिक दृष्टि और जलवायु परिवर्तन

जलवायु परिवर्तन का प्रभाव भी स्थान-विशिष्ट होता है।
हिमालय में इसका प्रभाव हिमनदों, बर्फ, जलप्रवाह और पर्वतीय आपदाओं से जुड़ सकता है।
राजस्थान और शुष्क क्षेत्रों में यह जल उपलब्धता और गर्मी के रूप में अधिक महत्वपूर्ण हो सकता है।
तटीय क्षेत्रों में समुद्र-स्तर वृद्धि, चक्रवात और तटीय क्षरण महत्वपूर्ण हो सकते हैं।
इसलिए एक समान राष्ट्रीय नीति के साथ **क्षेत्र-विशिष्ट जलवायु अनुकूलन रणनीतियाँ** आवश्यक हैं।
भू-सांस्कृतिक दृष्टि इस क्षेत्रीय विविधता को समझने में सहायक है।

4.9 संस्कृति को संरक्षण की शक्ति बनाना

भू-सांस्कृतिक दृष्टिकोण केवल भौगोलिक वर्गीकरण नहीं है। इसका उद्देश्य संस्कृति को पर्यावरण संरक्षण का सहभागी बनाना भी है। यदि किसी समुदाय

की पहचान किसी नदी, वन, पर्वत या जलस्रोत से जुड़ी है, तो उस सांस्कृतिक संबंध को संरक्षण के लिए सकारात्मक शक्ति में बदला जा सकता है।

यही कारण है कि डॉ. राजेंद्र सिंह जलपुरुष, तरुण भारत संघ का सामुदायिक दृष्टिकोण महत्वपूर्ण है।
यह दृष्टि केवल यह नहीं पूछती कि—
"सरकार जल-स्रोत को कैसे बचाए?"
बल्कि यह भी पूछती है—
"समुदाय स्वयं जल-स्रोत का संरक्षक कैसे बने?"
यह परिवर्तन संरक्षण को सरकारी परियोजना से सामाजिक आंदोलन में बदलने की क्षमता रखता है।

4.10 विज्ञान और समुदाय का समन्वय

भू-सांस्कृतिक दृष्टि का आधुनिक रूप न तो केवल परंपरा पर निर्भर होना चाहिए और न केवल तकनीक पर।
एक वैज्ञानिक रूप से मजबूत मॉडल हो सकता है—

चरण 1 — प्राकृतिक संसाधनों का वैज्ञानिक मानचित्रण

उपग्रह, GIS, ड्रोन, सेंसर और क्षेत्रीय सर्वेक्षण।

चरण 2 — स्थानीय ज्ञान का दस्तावेजीकरण

ग्राम समुदायों, किसानों, आदिवासी समूहों और स्थानीय विशेषज्ञों से जानकारी।

चरण 3 — जोखिम एवं वहन-क्षमता का आकलन

बाढ़, सूखा, भूस्खलन, जल-संकट, जैव-विविधता और जलवायु जोखिम।

चरण 4 — सांस्कृतिक संसाधनों का मानचित्रण

तीर्थ, परंपराएँ, जल-संरचनाएँ, लोककला और सांस्कृतिक स्थल।

चरण 5 — सहभागी विकास योजना

सरकार + वैज्ञानिक + स्थानीय समुदाय + संस्थान।
यह मॉडल भारत के विविध क्षेत्रों में स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार विकसित किया जा सकता है।

4.11 "एक भारत" का अर्थ "एकरूप भारत" नहीं

भारत की एकता का अर्थ यह नहीं कि देश के प्रत्येक क्षेत्र की प्रकृति और संस्कृति एक जैसी हो।

भारत की शक्ति उसकी विविधता में है।

हिमालय की संस्कृति राजस्थान जैसी नहीं है। राजस्थान की जल-परंपराएँ केरल की तटीय जीवन-पद्धति जैसी नहीं हैं। पूर्वोत्तर भारत की पारिस्थितिकी और सामाजिक संरचनाएँ दक्कन के पठार से भिन्न हैं।

फिर भी ये सभी भारत का हिस्सा हैं। इसलिए एक सशक्त भारत वह नहीं होगा जो विविधताओं को समाप्त करे, बल्कि वह होगा जो विविधताओं को **समझे, सम्मान दे और उन्हें राष्ट्रीय विकास की शक्ति में परिवर्तित करे।**

4.12 भू-सांस्कृतिक मानचित्र : भविष्य की आवश्यकता

भविष्य में भारत के लिए एक बहु-स्तरीय डिजिटल भू-सांस्कृतिक मानचित्र की कल्पना की जा सकती है।

इसमें एक ही स्थान पर निम्न सूचनाएँ जोड़ी जा सकती हैं—

प्राकृतिक परत

पर्वत
नदियाँ
वन
जलग्रहण
भूजल
जैव-विविधता

जलवायु परत

तापमान
वर्षा
चरम मौसम
जलवायु जोखिम

आपदा परत

भूकंप
बाढ़
भूस्खलन
सूखा
चक्रवात

सांस्कृतिक परत

तीर्थ
ऐतिहासिक स्थल

लोक परंपराएँ
मेले
पारंपरिक जल संरचनाएँ

मानवीय परत

जनसंख्या
कृषि
आजीविका
शहरीकरण
प्रवास

ऐसा मानचित्र नीति-निर्माताओं, शोधकर्ताओं, स्थानीय प्रशासन और समुदायों के लिए उपयोगी आधार बन सकता है।

4.13 तरुण भारत संघ और वैज्ञानिक दृष्टि का समन्वय

तरुण भारत संघ का सामुदायिक जल-संरक्षण अनुभव और प्रो. (डॉ.) भरत राज सिंह की वैज्ञानिक-पर्यावरणीय दृष्टि मिलकर एक व्यापक विकास-दर्शन की ओर संकेत कर सकती है।

इसे पाँच स्तंभों में रखा जा सकता है—

1. जल

जलागम, वर्षाजल संचयन और नदी संरक्षण।

2. भूमि

मिट्टी संरक्षण, भूमि उपयोग और पारिस्थितिक वहन-क्षमता।

3. वन एवं जैव-विविधता

प्राकृतिक आवास और स्थानीय समुदायों का संरक्षण।

4. विज्ञान एवं तकनीक

GIS, रिमोट सेंसिंग, सेंसर, डेटा और मॉडलिंग।

5. समुदाय एवं संस्कृति

स्थानीय ज्ञान, सहभागिता और सांस्कृतिक संरक्षण।

इन पाँचों को एक साथ देखने पर **भू-सांस्कृतिक सतत विकास** की अवधारणा विकसित होती है।

4.14 नीति-निर्माण के लिए नई दिशा

भू-सांस्कृतिक दृष्टि को भारत की विकास नीति में लागू करने के लिए कुछ बुनियादी सिद्धांत उपयोगी हो सकते हैं—

- **प्रशासनिक सीमा के साथ पारिस्थितिक सीमा का भी अध्ययन।**
- **नदी घाटी एवं जलग्रहण क्षेत्र आधारित योजना।**
- **स्थानीय समुदाय की निर्णय-प्रक्रिया में भागीदारी।**
- **प्राकृतिक संसाधनों की वहन-क्षमता का आकलन।**
- **सांस्कृतिक विरासत और प्राकृतिक विरासत का संयुक्त संरक्षण।**
- **जलवायु जोखिम को विकास योजनाओं में शामिल करना।**
- **आधुनिक विज्ञान और स्थानीय ज्ञान का समन्वय।**
- **आपदा-पूर्व चेतावनी और जोखिम-आधारित भूमि उपयोग।**
- **नवीकरणीय ऊर्जा और पर्यावरणीय संतुलन का एकीकृत अध्ययन।**
- **भविष्य की पीढ़ियों के अधिकारों को विकास के केंद्र में रखना।**

4.15 निष्कर्ष: राज्य से क्षेत्र, क्षेत्र से संबंध

राज्य और जिले भारत के प्रशासनिक संचालन के लिए आवश्यक हैं। लेकिन भारत की प्राकृतिक और सांस्कृतिक विविधता को समझने के लिए इनके साथ एक दूसरी दृष्टि की आवश्यकता है।

वह दृष्टि है—
भू-सांस्कृतिक दृष्टि।
यह दृष्टि पूछती है—
यह भूमि कैसी है?
यहाँ का जल कहाँ से आता है?
यह नदी किन क्षेत्रों को जोड़ती है?
यह पर्वत किन समुदायों का जीवन निर्धारित करता है?
यह संस्कृति किन प्राकृतिक परिस्थितियों से विकसित हुई? और
आज के विकास से इन संबंधों पर क्या प्रभाव पड़ रहा है?
यही प्रश्न भारत के भविष्य की योजना को अधिक समग्र बना सकते हैं।

भाग-१ के अध्यायों का संयुक्त निष्कर्ष

इन तीन अध्यायों को एक साथ पढ़ने पर एक क्रम स्पष्ट होता है—
अध्याय 1 बताता है: भारत केवल राजनीतिक सीमाओं का नाम नहीं है।

अध्याय 2 बताता है: भारत की धरती और उसकी संस्कृति ने एक-दूसरे को हजारों वर्षों में आकार दिया है।

अध्याय 3 बताता है: इसलिए भारत की वास्तविक विविधता को समझने के लिए प्रशासनिक मानचित्र के साथ भू-सांस्कृतिक मानचित्र भी आवश्यक है।

इस पूरी अवधारणा को एक सूत्र में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—
"राज्य भारत को प्रशासनिक रूप से जोड़ते हैं; नदियाँ, पर्वत, वन, संस्कृति और समुदाय भारत को सभ्यतागत रूप से जोड़ते हैं।"

और आगे—
"भूगोल को समझे बिना संस्कृति को पूरी तरह नहीं समझा जा सकता, और संस्कृति को समझे बिना प्रकृति के संरक्षण को स्थायी नहीं बनाया जा सकता।"



चित्र-01: 15-कृषि -जलवायुवीय, 50-भौतिकी व 86-भू -सांस्कृतिक मानचित्र

यह विचार इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि किसी क्षेत्र की संस्कृति वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों, जलवायु, नदियों, पर्वतों, वनस्पतियों, जैव-विविधता और प्राकृतिक संसाधनों के साथ निरंतर विकसित होती है। स्थानीय भोजन, पहनावा, आवास, कृषि पद्धतियाँ, लोकगीत, त्योहार और सामाजिक परंपराएँ केवल मानवीय रचनात्मकता की अभिव्यक्तियाँ नहीं हैं, बल्कि वे प्रकृति के साथ लंबे समय से चले आ रहे संबंधों का परिणाम भी हैं। इसलिए किसी समाज की सांस्कृतिक पहचान को समझने के लिए उसके प्राकृतिक परिवेश और संसाधनों के उपयोग की परंपराओं को जानना आवश्यक है।

इसी प्रकार, प्रकृति का संरक्षण तभी अधिक प्रभावी और स्थायी बन सकता है, जब उसमें स्थानीय संस्कृति, पारंपरिक ज्ञान और समुदायों की सक्रिय भागीदारी को उचित स्थान दिया जाए। नदियों, तालाबों, वनों और कृषि भूमि से जुड़े पारंपरिक अनुभव हमें संसाधनों के संतुलित उपयोग तथा प्रकृति के प्रति उत्तरदायित्व का बोध कराते हैं। जब संरक्षण की योजनाएँ स्थानीय आवश्यकताओं, सांस्कृतिक मूल्यों और भौगोलिक विशेषताओं के अनुरूप तैयार की जाती हैं, तब उनके दीर्घकालिक रूप से सफल होने की संभावनाएँ बढ़ती हैं।

यही दृष्टिकोण आगे आने वाले अध्यायों में "भूगोल से संस्कृति, संस्कृति से संरक्षण" की व्यापक अवधारणा का आधार बन सकता है। इसके माध्यम से यह समझ विकसित की जा सकती है कि भूगोल, संस्कृति और प्रकृति तीन अलग-अलग विषय नहीं, बल्कि एक-दूसरे से जुड़े हुए जीवन-तंत्र के अभिन्न अंग हैं। इस समग्र दृष्टि का उद्देश्य केवल भारत की भू-सांस्कृतिक विविधता को पहचानना नहीं, बल्कि स्थानीय ज्ञान के संरक्षण, प्राकृतिक संसाधनों के पुनर्जीवन, सामुदायिक सहभागिता और सतत विकास के लिए एक व्यावहारिक मार्ग भी प्रस्तुत करना है।

भाग–२ :
तीन मानचित्र, एक भारत

भारत को समझने के तीन अलग-अलग, परस्पर जुड़े हुए मानचित्र

भारत को सामान्यतः राजनीतिक मानचित्र के माध्यम से समझा जाता है। राज्य, केंद्रशासित प्रदेश, जिले और प्रशासनिक सीमाएँ हमारे लिए परिचित इकाइयाँ हैं। विद्यालयी शिक्षा, प्रशासन, निर्वाचन, जनगणना तथा सरकारी योजनाओं में इन सीमाओं का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। किंतु भारत की वास्तविक भौगोलिक और सांस्कृतिक संरचना केवल इन प्रशासनिक रेखाओं में सीमित नहीं है।

एक ही नदी अनेक राज्यों से होकर बहती है। एक ही पर्वतीय प्रणाली अनेक राजनीतिक सीमाओं को पार करती है। एक ही वर्षा-प्रणाली हजारों किलोमीटर दूर स्थित कृषि क्षेत्रों को प्रभावित करती है। एक ही मिट्टी अनेक राज्यों में मिलती है। किसी भाषा, लोकपरंपरा, नदी-संस्कृति, कृषि-पद्धति या पर्व का विस्तार भी प्रायः प्रशासनिक सीमा से स्वतंत्र होता है। इसीलिए भारत को समझने के लिए एक से अधिक प्रकार के मानचित्र आवश्यक हैं। इस पुस्तक के संदर्भ में तीन मानचित्र एक क्रमिक बौद्धिक यात्रा प्रस्तुत करते हैं—

15 कृषि-जलवायवीय क्षेत्र → 50 भौगोलिक-भौतिक इकाइयाँ → 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र

पहला मानचित्र पूछता है—**किस प्रकार की जलवायु और प्राकृतिक परिस्थितियाँ कृषि को प्रभावित करती हैं?**

दूसरा पूछता है—**भारत की धरती स्वयं किस प्रकार बनी है—पर्वत, पठार, मैदान, मरुस्थल, तट, द्वीप और नदी-घाटियाँ किस प्रकार एक-दूसरे से जुड़ी हैं?**

तीसरा पूछता है—**इन प्राकृतिक परिस्थितियों के बीच मनुष्य ने किस प्रकार जीवन, भाषा, आजीविका, परंपरा, आस्था, स्थापत्य, लोकज्ञान और संस्कृति का विकास किया?**

इस प्रकार तीनों मानचित्र तीन अलग-अलग भारत नहीं बनाते, बल्कि **एक ही भारत की तीन परतों** को सामने लाते हैं।

अध्याय-5
15 कृषि-जलवायुवीय क्षेत्र
जलवायु, वर्षा, कृषि और व्यापक क्षेत्रीय विविधता

5.1 भूमिका : खेत केवल मिट्टी से नहीं बनता

भारत की कृषि को समझने के लिए केवल यह जानना पर्याप्त नहीं है कि कहाँ कौन-सी फसल उगती है। इसके पीछे अनेक प्राकृतिक कारक काम करते हैं—वर्षा, तापमान, मिट्टी, जल उपलब्धता, स्थलाकृति, सिंचाई, ऋतु-चक्र और बढ़वार की अवधि। इसी कारण भारत की कृषि एकरूप नहीं है।
कश्मीर की घाटी में सेब, अखरोट और केसर का संसार दिखाई देता है; पंजाब-हरियाणा में गेहूँ और धान आधारित कृषि-व्यवस्था विकसित हुई; गंगा के मैदानों में धान, गेहूँ, गन्ना, दलहन और तिलहन का व्यापक उत्पादन होता है; दक्कन के काली मिट्टी वाले क्षेत्रों में कपास और सोयाबीन का महत्व है; राजस्थान के शुष्क क्षेत्र में बाजरा और मोटे अनाज जल-अभाव के अनुरूप कृषि की पहचान बनते हैं; पश्चिमी तट पर नारियल, मसाले और बागान कृषि वर्षा-प्रधान पर्यावरण से जुड़ती है।
अर्थात—**फसल मानव की पसंद मात्र नहीं है; वह जलवायु, मिट्टी और जल के साथ मनुष्य के संवाद का परिणाम है।**
यही कारण है कि कृषि-जलवायवीय मानचित्र भारत की प्राकृतिक विविधता को समझने का अत्यंत महत्वपूर्ण माध्यम बन जाता है।

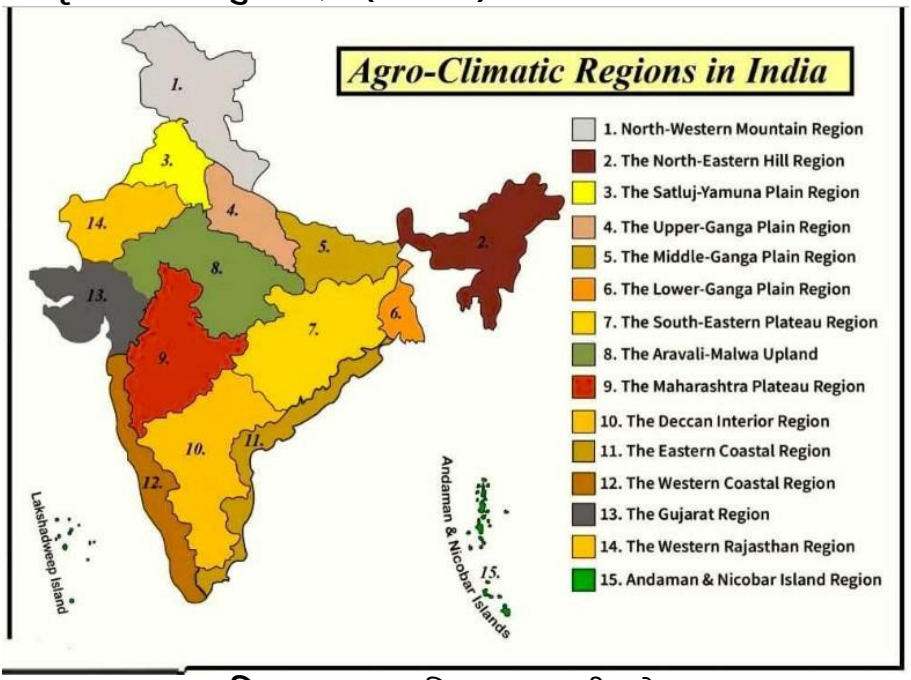
5.2 कृषि-जलवायुवीय क्षेत्र की अवधारणा

भारत में कृषि-जलवायवीय क्षेत्र निर्धारण का उद्देश्य ऐसे व्यापक क्षेत्रों की पहचान करना रहा है जहाँ जलवायु, मिट्टी, स्थलाकृति और जल-संसाधनों की परिस्थितियाँ कृषि-योजना के लिए पर्याप्त समानता रखती हों।

भारत सरकार के योजना आयोग द्वारा कृषि-जलवायवीय क्षेत्रीय नियोजन के अंतर्गत देश को **15 प्रमुख कृषि-जलवायुवीय क्षेत्रों** में विभाजित किया गया था। इस क्षेत्रीयकरण का उद्देश्य स्थान-विशिष्ट कृषि विकास, संसाधनों के

बेहतर उपयोग और क्षेत्रीय असमानताओं को कम करने के लिए योजना तैयार करना था।

15-कृषि – जलवायुवीय क्षेत्र (चित्र-02)



चित्र-02: 15-कृषि – जलवायुवीय क्षेत्र

ये 15 क्षेत्र हैं—
पश्चिमी हिमालयी क्षेत्र
पूर्वी हिमालयी क्षेत्र
निचला गंगा मैदान क्षेत्र
मध्य गंगा मैदान क्षेत्र
ऊपरी गंगा मैदान क्षेत्र
ट्रांस-गंगा मैदान क्षेत्र
पूर्वी पठार एवं पहाड़ी क्षेत्र
मध्य पठार एवं पहाड़ी क्षेत्र
पश्चिमी पठार एवं पहाड़ी क्षेत्र
दक्षिणी पठार एवं पहाड़ी क्षेत्र
पूर्वी तट मैदान एवं पहाड़ी क्षेत्र

पश्चिमी तट मैदान एवं घाट क्षेत्र
गुजरात मैदान एवं पहाड़ी क्षेत्र
पश्चिमी शुष्क क्षेत्र
द्वीप क्षेत्र।
यह वर्गीकरण प्रशासनिक सीमाओं के बजाय मुख्यतः प्राकृतिक एवं कृषि-संबंधी परिस्थितियों पर केंद्रित है।

5.3 पहला क्षेत्र : पश्चिमी हिमालयी क्षेत्र

पश्चिमी हिमालय भारत की भौगोलिक संरचना का वह भाग है जहाँ ऊँचाई के साथ जलवायु अत्यंत तेजी से बदलती है। हिमाचल प्रदेश, जम्मू-कश्मीर और उत्तराखंड के पर्वतीय क्षेत्र इस व्यापक कृषि-जलवायवीय परिक्षेत्र से जुड़े हैं। यहाँ घाटियों और ऊँचाई वाले क्षेत्रों में कृषि की प्रकृति अलग-अलग दिखाई देती है। निचली घाटियों में अनाज और सब्जियों की खेती संभव है, जबकि ऊँचाई बढ़ने पर बागवानी का महत्व बढ़ जाता है।

सेब, अखरोट, नाशपाती, आड़ू, खुबानी तथा अन्य समशीतोष्ण फल इस क्षेत्र की अर्थव्यवस्था और संस्कृति दोनों से जुड़े हैं। ऊँचाई, हिमपात, तापमान और ढलान कृषि की सीमा निर्धारित करते हैं।

यहाँ एक महत्वपूर्ण सिद्धांत दिखाई देता है—**ऊँचाई बढ़ने के साथ फसल बदलती है और फसल बदलने के साथ मानव जीवन की आर्थिक संरचना भी बदलती है।**
हिमालय में कृषि केवल खाद्य उत्पादन नहीं, बल्कि बागवानी, पशुपालन, वन-संसाधन और पर्वतीय जीवन-पद्धति का संयुक्त स्वरूप है।

5.4 दूसरा क्षेत्र : पूर्वी हिमालयी क्षेत्र

पूर्वी हिमालय पश्चिमी हिमालय से अलग जलवायु और जैव-विविधता प्रस्तुत करता है। यहाँ वर्षा अधिक है और अनेक स्थानों पर आर्द्रता भी अधिक रहती है।
अरुणाचल प्रदेश, सिक्किम तथा पूर्वोत्तर के पर्वतीय क्षेत्रों के साथ उत्तर बंगाल और असम के कुछ भाग इस व्यापक पर्यावरणीय प्रणाली से जुड़े हैं।
धान, मक्का, चाय, अदरक, हल्दी, बड़ी इलायची तथा अनेक बागवानी उत्पाद यहाँ की कृषि पहचान का हिस्सा हैं। पर्वतीय क्षेत्रों में पारंपरिक कृषि प्रणालियाँ भी विकसित हुई हैं।

इस क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण पाठ यह है कि अधिक वर्षा का अर्थ स्वतः अधिक कृषि-उत्पादकता नहीं होता। ढलान, मिट्टी का कटाव, भूस्खलन, परिवहन और भूमि की उपलब्धता जैसे कारक भी निर्णायक होते हैं।

5.5 तीसरा क्षेत्र : निचला गंगा मैदान

गंगा-ब्रह्मपुत्र प्रणाली से जुड़े मैदान भारत के सबसे उपजाऊ और घनी आबादी वाले क्षेत्रों में हैं। पश्चिम बंगाल का निचला गंगा मैदान जल, उपजाऊ जलोढ़ मिट्टी और उच्च कृषि क्षमता से प्रभावित है।

धान यहाँ की प्रमुख कृषि पहचान है। जूट भी ऐतिहासिक रूप से इस क्षेत्र की महत्वपूर्ण फसल रही है। सब्जियाँ, तिलहन और अन्य फसलें भी विविध कृषि व्यवस्था का निर्माण करती हैं।

लेकिन यहाँ प्रकृति का दूसरा पक्ष भी है—**बाढ़**।

नदियाँ मिट्टी और जल लाती हैं, लेकिन वही नदियाँ बाढ़ भी ला सकती हैं। इसलिए नदी और कृषि के संबंध को केवल लाभ या केवल संकट के रूप में नहीं देखा जा सकता।

यहाँ की सभ्यता मूलतः नदी-आधारित सभ्यता का उदाहरण है।

5.6 चौथा और पाँचवाँ क्षेत्र : मध्य तथा ऊपरी गंगा मैदान

मध्य और ऊपरी गंगा मैदान भारत के कृषि-आर्थिक तंत्र की केंद्रीय धुरी हैं। बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश से लेकर पश्चिमी उत्तर प्रदेश तक जलोढ़ मैदानों का विस्तार कृषि के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ प्रदान करता है। धान, गेहूँ, गन्ना, मक्का, दलहन और तिलहन जैसी फसलों का महत्व अलग-अलग भागों में दिखाई देता है।

उत्तर प्रदेश का कृषि भूगोल विशेष रूप से महत्वपूर्ण है क्योंकि राज्य के भीतर ही पूर्वी, मध्य और पश्चिमी क्षेत्रों की वर्षा, सिंचाई, मिट्टी और कृषि-पद्धति में अंतर दिखाई देता है।

इससे एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है—

एक राज्य एक कृषि-क्षेत्र नहीं होता।

राजनीतिक मानचित्र में उत्तर प्रदेश एक इकाई है, लेकिन कृषि-जलवायु के मानचित्र में वही भूभाग अनेक परिस्थितियों में विभाजित हो जाता है।

5.7 छठा क्षेत्र : ट्रांस-गंगा मैदान

पंजाब, हरियाणा और दिल्ली तथा राजस्थान के कुछ भागों से जुड़ा यह क्षेत्र कृषि के आधुनिकीकरण और सिंचाई आधारित कृषि का महत्वपूर्ण उदाहरण है।

हरित क्रांति के बाद गेहूँ-धान प्रणाली ने इस क्षेत्र की कृषि अर्थव्यवस्था को गहराई से प्रभावित किया। नहरों और भूजल सिंचाई ने कृषि उत्पादन की क्षमता को बढ़ाया।

लेकिन कृषि सफलता के साथ संसाधन-दबाव की चुनौतियाँ भी सामने आईं—विशेषतः भूजल दोहन, फसल विविधता में कमी और मिट्टी की गुणवत्ता से संबंधित प्रश्न।

इसलिए कृषि-जलवायवीय मानचित्र केवल उत्पादन बढ़ाने की दिशा नहीं बताता; वह यह भी पूछता है—

किस क्षेत्र में कौन-सी कृषि कितने समय तक टिकाऊ रह सकती है?

5.8 सातवाँ से दसवाँ क्षेत्र : पठार और पहाड़

पूर्वी, मध्य, पश्चिमी और दक्षिणी पठार एवं पहाड़ी क्षेत्र भारत की भौगोलिक विविधता को स्पष्ट करते हैं।

छोटानागपुर, मध्य भारत, बुंदेलखंड, मालवा, दक्कन और दक्षिणी आंतरिक पठारों में वर्षा, मिट्टी, ढलान और जल उपलब्धता में उल्लेखनीय अंतर हैं।

काली मिट्टी वाले दक्कन में कपास का विशेष महत्व है। मध्य भारत में सोयाबीन, गेहूँ, चना और अन्य फसलों का महत्व है। बुंदेलखंड जैसे अर्ध-शुष्क क्षेत्रों में जल संरक्षण कृषि का निर्णायक प्रश्न बन जाता है।

इन क्षेत्रों में कृषि का भविष्य बड़े पैमाने पर **जल-संचयन, सूक्ष्म सिंचाई, स्थानीय बीज, फसल विविधीकरण और मिट्टी संरक्षण** से जुड़ा है।

5.9 ग्यारहवाँ क्षेत्र : पूर्वी तट मैदान

पूर्वी तट पर महानदी, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी जैसी नदियों ने विस्तृत डेल्टा मैदान बनाए हैं। डेल्टा क्षेत्रों की उपजाऊ मिट्टी और जल उपलब्धता ने धान-प्रधान कृषि को बढ़ावा दिया। तटीय कृषि में चक्रवात, समुद्री लवणता और तटीय बाढ़ जैसी प्राकृतिक चुनौतियाँ भी महत्वपूर्ण हैं।

इसलिए यहाँ कृषि का संबंध केवल नदी से नहीं बल्कि **नदी–समुद्र–डेल्टा** के त्रिकोण से है।

5.10 बारहवाँ क्षेत्र : पश्चिमी तट और घाट

पश्चिमी तट पर पश्चिमी घाट की उपस्थिति मानसूनी वर्षा को अत्यधिक प्रभावित करती है। कोंकण, कर्नाटक तट और केरल के क्षेत्रों में भारी वर्षा, ऊँची आर्द्रता और विविध जैव-संसाधन मिलते हैं।

नारियल, चावल, मसाले, सुपारी, रबर और विभिन्न बागान फसलों ने इस क्षेत्र की कृषि अर्थव्यवस्था को विशिष्ट बनाया है।

यहाँ एक और महत्वपूर्ण तथ्य सामने आता है—

जहाँ वर्षा अधिक है, वहाँ जल-अभाव समाप्त नहीं होता; जल प्रबंधन की प्रकृति बदल जाती है।

भारी वर्षा के बावजूद वर्षाजल का संरक्षण, भू-स्खलन नियंत्रण और तटीय पारिस्थितिकी की रक्षा आवश्यक रहती है।

5.11 तेरहवाँ क्षेत्र : गुजरात मैदान एवं पहाड़

गुजरात का कृषि भूगोल पश्चिमी भारत की संक्रमणशील प्रकृति को दर्शाता है। यहाँ शुष्क और अर्ध-शुष्क क्षेत्रों के साथ अपेक्षाकृत अधिक सिंचित तथा तटीय कृषि क्षेत्र भी हैं।

कपास, मूंगफली, बाजरा, तंबाकू और अन्य फसलें अलग-अलग भागों में कृषि व्यवस्था का हिस्सा हैं।

कच्छ जैसे क्षेत्रों में जल-अभाव और लवणीयता महत्वपूर्ण चुनौतियाँ हैं, जबकि दक्षिणी गुजरात में अधिक वर्षा कृषि का स्वरूप बदल देती है।

5.12 चौदहवाँ क्षेत्र : पश्चिमी शुष्क क्षेत्र

राजस्थान का पश्चिमी भाग भारत के सबसे विशिष्ट कृषि-जलवायवीय क्षेत्रों में है।

यहाँ वर्षा कम और अत्यधिक अनिश्चित हो सकती है। ऐसे वातावरण में कृषि ने भी प्रकृति के अनुरूप रूप ग्रहण किया है।

बाजरा, ग्वार, सरसों तथा अन्य कम जल वाली फसलें यहाँ विशेष महत्व रखती हैं।

इस क्षेत्र की सबसे बड़ी शिक्षा है—

कम वर्षा वाले क्षेत्र में कृषि का लक्ष्य केवल अधिक उत्पादन नहीं, बल्कि कम जल में स्थायित्व होना चाहिए।

पारंपरिक जल-संरचनाएँ—जोहड़, तालाब, कुएँ और स्थानीय जल-संचयन प्रणालियाँ—इस संदर्भ में केवल ऐतिहासिक धरोहर नहीं बल्कि जल-संस्कृति के उदाहरण हैं।

5.13 पंद्रहवाँ क्षेत्र : द्वीप क्षेत्र

अंडमान-निकोबार और लक्षद्वीप भारत के कृषि-जलवायु मानचित्र को समुद्री आयाम प्रदान करते हैं।
यहाँ भूमि की उपलब्धता, समुद्री प्रभाव, आर्द्रता, चक्रवात, जैव-विविधता और परिवहन कृषि को प्रभावित करते हैं।
नारियल, सुपारी, मसाले, बागवानी और मत्स्य-आधारित आजीविका यहाँ के जीवन से जुड़ी है।
द्वीप क्षेत्र हमें याद दिलाता है कि भारत केवल महाद्वीपीय भूभाग नहीं है; उसका एक महत्वपूर्ण हिस्सा समुद्र और द्वीपीय पारिस्थितिकी से भी जुड़ा है।

5.14: 15 क्षेत्रों का व्यापक अर्थ

भारत के 15 कृषि-जलवायवीय क्षेत्रों को केवल कृषि-उत्पादन या फसलों की विविधता की दृष्टि से देखना अधूरा होगा। वास्तव में, ये क्षेत्र देश की भौगोलिक परिस्थितियों, प्राकृतिक संसाधनों, जलवायु और मानव गतिविधियों के बीच स्थापित गहरे संबंधों को समझने का एक महत्वपूर्ण आधार प्रदान करते हैं। प्रत्येक क्षेत्र की अपनी विशिष्ट जलवायु, वर्षा की मात्रा, तापमान, मिट्टी की प्रकृति और जल उपलब्धता होती है, जो वहाँ की कृषि प्रणालियों, पशुपालन, बागवानी तथा ग्रामीण आजीविका को प्रभावित करती है।
ये क्षेत्र भारत के—
वर्षा-पैटर्न,
तापमान,
मिट्टी,
जल संसाधन,
सिंचाई,
फसल-पद्धति,
पशुपालन,
बागवानी,
जल-संरक्षण,
ग्रामीण अर्थव्यवस्था

और अंततः मानव जीवन, सामाजिक व्यवहार और सांस्कृतिक परंपराओं की प्रकृति को समझने का माध्यम हैं।

इस प्रकार, कृषि-जलवायवीय क्षेत्रों का अध्ययन केवल उत्पादन क्षमता का आकलन करने तक सीमित नहीं रहता, बल्कि यह स्पष्ट करता है कि प्राकृतिक परिस्थितियाँ मानव की आजीविका, संसाधनों के उपयोग और क्षेत्रीय विकास को किस प्रकार आकार देती हैं। इसलिए कृषि-जलवायवीय मानचित्र **भारत के प्राकृतिक भूगोल और आर्थिक भूगोल के बीच एक महत्वपूर्ण पुल** का कार्य करता है, जो आगे भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों की पहचान और उनके समग्र विकास को समझने का आधार भी बन सकता है।

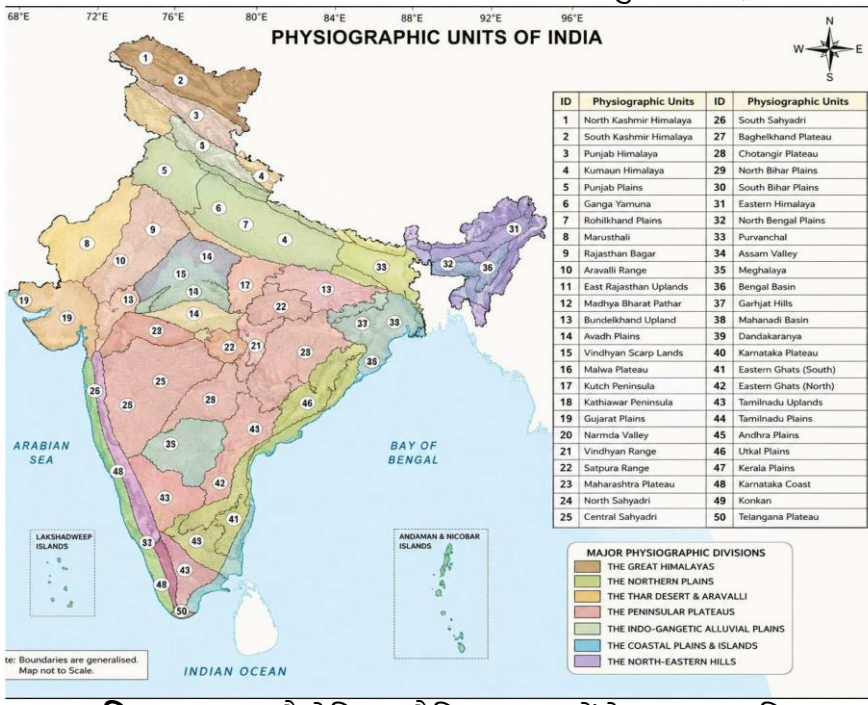
अध्याय-6
50-भौगोलिक-भौतिक इकाइयाँ
हिमालय से तट तक भारत की भौतिक संरचना

6.1 धरती का अपना चरित्र

यदि अध्याय 4 में हमने पूछा कि जलवायु और प्राकृतिक परिस्थितियाँ कृषि को किस प्रकार प्रभावित करती हैं, तो अध्याय 5 उससे भी मूलभूत प्रश्न पूछता है—

जिस धरती पर कृषि और सभ्यता विकसित हुई, वह धरती बनी कैसे?

भारत का भौतिक भूगोल अत्यंत जटिल है। उत्तर में युवा और सक्रिय हिमालय है; उसके दक्षिण में विशाल जलोढ़ मैदान हैं; मध्य भारत में प्राचीन पठारी भूभाग है; पश्चिम में थार मरुस्थल है; पूर्व और पश्चिम में तटीय मैदान हैं; दक्षिण में प्रायद्वीपीय पठार और उसके चारों ओर समुद्री सीमाएँ हैं।



ID	Physiographic Units	ID	Physiographic Units
1	North Kashmir Himalaya	26	South Sahyadri
2	South Kashmir Himalaya	27	Baghelkhand Plateau
3	Punjab Himalaya	28	Chotangir Plateau
4	Kumaun Himalaya	29	North Bihar Plains
5	Punjab Plains	30	South Bihar Plains
6	Ganga Yamuna	31	Eastern Himalaya
7	Rohilkhand Plains	32	North Bengal Plains
8	Marusthali	33	Purvanchal
9	Rajasthan Bagar	34	Assam Valley
10	Aravalli Range	35	Meghalaya
11	East Rajasthan Uplands	36	Bengal Basin
12	Madhya Bharat Pathar	37	Garhjat Hills
13	Bundelkhand Upland	38	Mahanadi Basin
14	Avadh Plains	39	Dandakaranya
15	Vindhyan Scarp Lands	40	Karnataka Plateau
16	Malwa Plateau	41	Eastern Ghats (South)
17	Kutch Peninsula	42	Eastern Ghats (North)
18	Kathiawar Peninsula	43	Tamilnadu Uplands
19	Gujarat Plains	44	Tamilnadu Plains
20	Narmda Valley	45	Andhra Plains
21	Vindhyan Range	46	Utkal Plains
22	Satpura Range	47	Kerala Plains
23	Maharashtra Plateau	48	Karnataka Coast
24	North Sahyadri	49	Konkan
25	Central Sahyadri	50	Telangana Plateau

चित्र 03 : 50 भौगोलिक-भौतिक इकाइयों के सूक्ष्म मानचित्र

इस विशाल संरचना को 50 भौगोलिक-भौतिक इकाइयों के सूक्ष्म मानचित्र के रूप में देखना भारत की धरती को समझने का एक और चरण है (**चित्र-03**)।

6.2 हिमालय : भारत की उत्तरी प्राकृतिक दीवार नहीं, जीवन-प्रणाली

हिमालय को अक्सर भारत की उत्तरी सीमा या प्राकृतिक दीवार कहा जाता है। लेकिन वैज्ञानिक दृष्टि से हिमालय केवल पर्वत-श्रृंखला नहीं है।
यह जल-स्रोत है।
यह जलवायु को प्रभावित करता है।
यह नदियों को जन्म देता है।
यह जैव-विविधता का क्षेत्र है।
यह अनेक समुदायों की जीवन-शैली का आधार है।
हिमालय की विभिन्न श्रेणियाँ—महान हिमालय, लघु हिमालय और शिवालिक—अपनी भौतिक विशेषताओं के कारण अलग-अलग पर्यावरणीय क्षेत्र बनाती हैं।

हिमालय का भूगर्भीय विकास भी इसे विशेष बनाता है। भारतीय प्लेट और यूरेशियाई प्लेट के परस्पर अभिसरण से जुड़े भूगर्भीय प्रक्रियाएँ आज भी क्षेत्र की सक्रियता को प्रभावित करती हैं। इसी कारण हिमालय को स्थिर भूभाग समझना वैज्ञानिक रूप से उचित नहीं है।

6.3 कश्मीर और हिमालयी घाटियाँ

कश्मीर घाटी जैसे क्षेत्र पर्वतों से घिरे हुए आंतरिक मैदानों का उदाहरण हैं। यहाँ की भौगोलिक स्थिति ने कृषि, बागवानी और मानव बसावट को विशेष रूप दिया।
झीलें, नदियाँ, घाटियाँ और पर्वतीय ढलान मिलकर एक विशिष्ट प्राकृतिक परिदृश्य बनाते हैं।
यही प्राकृतिक संरचना आगे चलकर सांस्कृतिक पहचान का आधार बनती है—लकड़ी की वास्तुकला, जल-आधारित जीवन, बागवानी और स्थानीय खाद्य संस्कृति इसके उदाहरण हैं।

6.4 शिवालिक और दून घाटियाँ

हिमालय के दक्षिणी भाग में शिवालिक तथा उनसे संबंधित दून घाटियाँ एक संक्रमण क्षेत्र बनाती हैं।

देहरादून इसका प्रमुख उदाहरण है।

यहाँ पर्वतीय और मैदानी पर्यावरण का संपर्क दिखाई देता है। ऐसी संक्रमण पट्टियाँ भू-सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण होती हैं क्योंकि यहाँ विभिन्न पारिस्थितिक और आर्थिक प्रणालियाँ एक-दूसरे से मिलती हैं।

6.5 महान मैदान : हिमालय से निकली नदियों की देन

सिंधु, गंगा और ब्रह्मपुत्र नदी प्रणालियों ने विशाल जलोढ़ मैदान बनाए हैं।

इन मैदानों की उर्वरता, अपेक्षाकृत समतल भूमि और जल उपलब्धता ने मानव सभ्यता के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

हरित क्रांति से पहले भी यह क्षेत्र कृषि का केंद्र रहा और आधुनिक सिंचाई के बाद इसका कृषि महत्व और बढ़ा।

लेकिन यही क्षेत्र बाढ़, नदी-पथ परिवर्तन, भूजल दोहन और जल-प्रदूषण जैसी समस्याओं से भी प्रभावित होता है।

6.6 पंजाब-हरियाणा का मैदान

यह क्षेत्र नदियों, सिंचाई और आधुनिक कृषि तकनीक के मेल का उदाहरण है। सतलुज, ब्यास, रावी और घग्घर जैसी नदी प्रणालियाँ तथा नहर नेटवर्क कृषि को प्रभावित करते हैं।

यहाँ प्राकृतिक मैदान और मानव निर्मित सिंचाई अवसंरचना मिलकर एक नया कृषि-परिदृश्य बनाते हैं। इससे एक महत्वपूर्ण विचार उभरता है—

भूगोल केवल प्राकृतिक नहीं होता; मानव भी भूगोल को बदलता है।

6.7 गंगा का मध्य मैदान

उत्तर प्रदेश और बिहार से गुजरता गंगा मैदान भारत की जनसंख्या, कृषि और सांस्कृतिक जीवन की महत्वपूर्ण धुरी है। गंगा, यमुना, घाघरा, गंडक, कोसी, सोन और अन्य नदियाँ इस क्षेत्र को जल और उपजाऊ अवसाद प्रदान करती हैं।

यहाँ नदी केवल जलधारा नहीं है। वह—

कृषि का आधार,

परिवहन का ऐतिहासिक माध्यम,

नगरों का विकास केंद्र,

तीर्थ-परंपरा का आधार,
लोकगीतों और साहित्य का विषय
भी रही है।

6.8 ब्रह्मपुत्र घाटी

पूर्वोत्तर भारत में ब्रह्मपुत्र घाटी का भूगोल विशिष्ट है। नदी का विशाल प्रवाह, बाढ़, द्वीप, दलदली क्षेत्र और आसपास की पर्वतीय संरचनाएँ इसे अन्य नदी घाटियों से अलग करती हैं। असम की संस्कृति, कृषि और बस्तियों का विकास इस नदी-प्रणाली से गहरे रूप में जुड़ा है।
यहाँ नदी और समाज का संबंध अगले अध्याय में भू-सांस्कृतिक दृष्टि से और अधिक स्पष्ट होगा।

6.9 थार मरुस्थल

पश्चिमी भारत का थार मरुस्थल भारत के भौतिक भूगोल का एक अत्यंत विशिष्ट भाग है।
कम वर्षा, उच्च तापीय अंतर, रेतीली भूमि और सीमित सतही जल ने यहाँ मानव जीवन को जल-केंद्रित बनाया।
कुएँ, तालाब, टांके, जोहड़ और अन्य पारंपरिक जल-संरचनाएँ केवल तकनीकी समाधान नहीं थीं; वे सामाजिक संस्थाएँ भी थीं।
यहाँ प्रकृति ने संस्कृति को आकार दिया।

6.10 अरावली : प्राचीन पर्वतीय धरोहर

अरावली भारत की प्राचीन पर्वतीय प्रणालियों में से एक है और पश्चिमी भारत के पर्यावरणीय संतुलन में इसका महत्व अत्यंत व्यापक है।
अरावली का विस्तार राजस्थान से हरियाणा और दिल्ली क्षेत्र की ओर जाता है।
यह पर्वतमाला—
भूजल पुनर्भरण,
वर्षाजल संचयन,
वनस्पति,
जैव-विविधता,
धूल और मरुस्थलीकरण नियंत्रण
जैसी प्रक्रियाओं से जुड़ी है।

इसी कारण अरावली को केवल पत्थर और पहाड़ियों की श्रृंखला के रूप में देखना उसके वास्तविक महत्व को कम कर देता है।

6.11 दक्कन का पठार

भारत का प्रायद्वीपीय पठार अत्यंत प्राचीन भूगर्भीय संरचनाओं से जुड़ा है। इसका बड़ा भाग कठोर शैलों और पठारी भूभाग से निर्मित है।
दक्कन के पठार पर काली मिट्टी वाले क्षेत्र कृषि की दृष्टि से विशेष महत्व रखते हैं।
पठार की ढलानों से निकलने वाली नदियाँ—गोदावरी, कृष्णा, कावेरी आदि—पूर्व की ओर बहती हुई विशाल डेल्टा और तटीय मैदान बनाती हैं।
इस प्रकार पठार और तट अलग-अलग भौगोलिक इकाइयाँ होते हुए भी जल-प्रणाली से जुड़े हैं।

6.12 मालवा और बुंदेलखंड

मालवा का पठार और बुंदेलखंड का भूभाग मध्य भारत की विशिष्ट भौतिक संरचनाएँ हैं, जिनकी भौगोलिक बनावट, मिट्टी, जलवायु और जल-संसाधन वहाँ की कृषि तथा मानव जीवन को प्रभावित करते हैं। मालवा का पठारी क्षेत्र कृषि और अपेक्षाकृत उपजाऊ मिट्टी के लिए जाना जाता है, जबकि बुंदेलखंड में वर्षा की अनिश्चितता और जल की सीमित उपलब्धता ने स्थानीय आजीविका को चुनौतीपूर्ण बनाया है।

बुंदेलखंड में तालाबों, कुओं और छोटे जलाशयों के निर्माण की परंपरा इस बात का प्रमाण है कि मानव समाज ने स्थानीय भूगोल और जलवायु के अनुरूप जल-प्रबंधन की प्रणालियाँ विकसित कीं। ये संरचनाएँ केवल जल-संचयन के साधन नहीं थीं, बल्कि कृषि, पशुपालन और सामुदायिक जीवन का भी आधार रही हैं। इस प्रकार मालवा और बुंदेलखंड का अध्ययन प्राकृतिक परिस्थितियों, संसाधनों के उपयोग और क्षेत्रीय विकास के पारस्परिक संबंधों को समझने में सहायक है।

6.13 छोटानागपुर पठार

झारखंड तथा आसपास का क्षेत्र खनिज संपदा, पठारी भूभाग, वनों और आदिवासी सांस्कृतिक परंपराओं के लिए विशिष्ट पहचान रखता है। यहाँ की भौतिक संरचना और खनिज संसाधनों ने औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित

किया है, जबकि वन, भूमि और जल-संसाधन लंबे समय से स्थानीय समुदायों की आजीविका तथा सांस्कृतिक जीवन के महत्वपूर्ण आधार रहे हैं।

इस क्षेत्र में प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग केवल आर्थिक दृष्टि से नहीं, बल्कि पर्यावरणीय संतुलन और सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों में भी समझना आवश्यक है। खनन, औद्योगिकीकरण और भूमि उपयोग में परिवर्तन का प्रभाव वनों, जैव-विविधता और पारंपरिक आजीविका पर पड़ सकता है। इसलिए छोटानागपुर पठार का अध्ययन प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग, स्थानीय समुदायों के अधिकारों और सतत विकास के बीच संतुलन स्थापित करने की आवश्यकता को स्पष्ट करता है।

6.14 पूर्वी घाट और पश्चिमी घाट

पूर्वी घाट और पश्चिमी घाट भारत के प्रायद्वीपीय भूगोल, जैव-विविधता और जलवायु को समझने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। पश्चिमी घाट अपेक्षाकृत अधिक निरंतर पर्वतीय प्रणाली है, जो भारतीय मानसून की वर्षा-वितरण प्रणाली को प्रभावित करती है। इसके पश्चिमी ढलानों पर भारी वर्षा होती है, जबकि पूर्व की ओर वर्षा की मात्रा में क्षेत्रीय अंतर दिखाई देता है। यहाँ के वन, नदियों के उद्गम क्षेत्र और विशिष्ट पारिस्थितिकी अनेक जीव-जंतुओं तथा वनस्पतियों को आश्रय प्रदान करते हैं।

इसके विपरीत, पूर्वी घाट अपेक्षाकृत खंडित पर्वतीय श्रृंखला है, जिसे महानदी, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी जैसी नदियाँ काटती हुई बंगाल की खाड़ी तक पहुँचती हैं। दोनों पर्वतीय प्रणालियों की भौगोलिक बनावट, वर्षा, मिट्टी और प्राकृतिक वनस्पति में अंतर ने कृषि, जैव-विविधता तथा मानव बसावट के विविध रूप विकसित किए हैं। इनका अध्ययन यह समझने में सहायता करता है कि पर्वतीय संरचनाएँ जलवायु, जल-प्रवाह, आजीविका और सांस्कृतिक जीवन को किस प्रकार प्रभावित करती हैं।

6.15 तटीय मैदान

भारत के पूर्वी और पश्चिमी तटीय मैदानों की भौगोलिक प्रकृति में महत्वपूर्ण अंतर पाया जाता है। पूर्वी तट पर महानदी, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी जैसी नदियों ने विस्तृत डेल्टा का निर्माण किया है, जहाँ उपजाऊ जलोढ़ मिट्टी कृषि के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ प्रदान करती है। इन क्षेत्रों में धान की खेती,

मत्स्य पालन और नदी-आधारित आजीविका महत्वपूर्ण हैं। साथ ही, चक्रवात, तटीय बाढ़ और समुद्री जल के अतिक्रमण जैसी घटनाएँ यहाँ के पर्यावरण और जनजीवन को प्रभावित कर सकती हैं।

इसके विपरीत, पश्चिमी तटीय मैदान अपेक्षाकृत संकरे हैं और पश्चिमी घाट के निकट स्थित हैं। यहाँ भारी वर्षा, छोटी लेकिन तीव्र प्रवाह वाली नदियाँ, बैकवॉटर, आर्द्रभूमियाँ और समुद्री पारिस्थितिकी विशेष महत्व रखती हैं। नारियल, मसालों, मत्स्य पालन और समुद्री व्यापार से जुड़ी आजीविका ने इस क्षेत्र की अर्थव्यवस्था तथा संस्कृति को विशिष्ट स्वरूप दिया है। इस प्रकार दोनों तटीय क्षेत्रों का अध्ययन समुद्र, नदियों, जलवायु और मानव जीवन के बीच गहरे संबंधों को समझने का अवसर प्रदान करता है।

6.16 सुंदरबन और डेल्टाई संसार

गंगा-ब्रह्मपुत्र-मेघना डेल्टा का सुंदरबन क्षेत्र नदी, समुद्र, ज्वार-भाटा और मैंग्रोव वनों का अनूठा संगम है। यह विश्व के विशिष्ट डेल्टाई पारिस्थितिक तंत्रों में से एक है, जहाँ मीठे पानी और खारे पानी का मिश्रण एक विशिष्ट जैव-विविधता को जन्म देता है। यहाँ की भूमि स्थिर नहीं, बल्कि निरंतर परिवर्तनशील है। ज्वार-भाटा, अवसादन, नदी-तटों का कटाव और समुद्री प्रभाव इस क्षेत्र के भू-दृश्य को लगातार बदलते रहते हैं।

सुंदरबन के मैंग्रोव वन तटीय पारिस्थितिकी, जैव-विविधता और प्राकृतिक जोखिमों को कम करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। स्थानीय समुदायों की आजीविका मत्स्य पालन, कृषि और वन-आधारित संसाधनों से जुड़ी है, जबकि चक्रवात, तटीय कटाव और खारे पानी का प्रसार उनके सामने अनेक चुनौतियाँ उत्पन्न करते हैं। सुंदरबन हमें सिखाता है कि कुछ भौगोलिक इकाइयों को स्थिर मानचित्र के बजाय गतिशील पारिस्थितिकी के रूप में समझना चाहिए, जहाँ प्रकृति और मानव समाज निरंतर अनुकूलन की प्रक्रिया में रहते हैं।

6.17 द्वीप : समुद्र में भारत

अंडमान-निकोबार और लक्षद्वीप भारत की भौतिक संरचना को समुद्र तक विस्तारित करते हैं तथा देश की समुद्री जैव-विविधता और सांस्कृतिक विविधता के महत्वपूर्ण केंद्र हैं। दोनों द्वीप-समूहों की उत्पत्ति, भूगर्भीय संरचना और प्राकृतिक पर्यावरण में उल्लेखनीय अंतर है। अंडमान-निकोबार

द्वीप-समूह में पर्वतीय भूभाग, घने उष्णकटिबंधीय वन और विशिष्ट समुद्री पारिस्थितिकी पाई जाती है, जबकि लक्षद्वीप मुख्यतः प्रवाल-निर्मित द्वीपों से बना है, जहाँ प्रवाल भित्तियाँ और लैगून विशेष महत्व रखते हैं।

इन द्वीपों का जीवन समुद्र, मत्स्य संसाधनों, स्थानीय जलवायु और सीमित भूमि उपलब्धता से गहराई से जुड़ा है। समुद्र-स्तर में वृद्धि, तटीय कटाव, प्रवाल भित्तियों का क्षरण और चरम मौसमी घटनाएँ इनके पर्यावरण तथा स्थानीय आजीविका के लिए चुनौती बन सकती हैं। फिर भी, दोनों द्वीप-समूह भारत के भौगोलिक विस्तार, समुद्री संसाधनों और सांस्कृतिक विरासत की महत्वपूर्ण कड़ियाँ हैं। इनका संरक्षण स्थानीय समुदायों की आवश्यकताओं और संवेदनशील समुद्री पारिस्थितिकी के बीच संतुलन स्थापित करने के लिए आवश्यक है।

6.18: 50 इकाइयों का महत्व

50 भौगोलिक-भौतिक इकाइयों का मानचित्र भारत को छोटे-छोटे प्राकृतिक तंत्रों में देखने की दिशा देता है।

यह मानचित्र बताता है कि—

हिमालय → मैदान → पठार → मरुस्थल → तटीय क्षेत्र → द्वीप

एक-दूसरे से अलग नहीं हैं।

वे जल, जलवायु, मिट्टी, नदियों, जैव-विविधता और मानव गतिविधियों के माध्यम से परस्पर जुड़े हैं।

इसलिए भारत की भौतिक संरचना को समझना भू-सांस्कृतिक अध्ययन की पूर्वशर्त है।

अध्याय-7
86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र
प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक विविधता का सूक्ष्म मानचित्र

7.1 प्रकृति से संस्कृति तक

प्राकृतिक भूगोल हमें बताता है कि भूमि कैसी है।
कृषि-जलवायु बताती है कि वहाँ जीवन और उत्पादन की परिस्थितियाँ कैसी हैं।
लेकिन मनुष्य उस भूमि पर किस प्रकार रहता है—यह प्रश्न हमें संस्कृति की ओर ले जाता है।
यहीं से **भू-सांस्कृतिक दृष्टि** प्रारंभ होती है।
किसी क्षेत्र की संस्कृति केवल भाषा या धर्म से नहीं बनती। उसमें शामिल होते हैं—
भूमि,
जल,
जलवायु,
वन,
नदी,
कृषि,
पशुपालन,
भोजन,
वस्त्र,
आवास,
लोककला,
संगीत,
लोककथाएँ,
तीर्थ,
पर्व,
आजीविका,

स्थानीय ज्ञान,
सामाजिक संस्थाएँ।
इसलिए संस्कृति को भूगोल से अलग करके देखना अधूरा दृष्टिकोण है।

7.2: 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों की आवश्यकता

15 कृषि-जलवायवीय क्षेत्र बड़े पैमाने पर भारत की प्राकृतिक और कृषि-संबंधी समानताओं को दिखाते हैं।
50 भौतिक इकाइयाँ धरती की संरचना को अधिक सूक्ष्म बनाती हैं।
लेकिन दोनों में एक महत्वपूर्ण चीज अभी भी छूट सकती है—**मनुष्य की सांस्कृतिक प्रतिक्रिया**। इसीलिए **86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र** एक और अधिक सूक्ष्म दृष्टि प्रस्तुत करते हैं।
यहाँ प्रश्न यह नहीं है कि केवल मिट्टी कैसी है, बल्कि—
इस मिट्टी के साथ मनुष्य का संबंध कैसा बना?



चित्र 04 : 86 भू –सांस्कृतिक मानचित्र

7.3 नदी और संस्कृति

भारत में अनेक संस्कृतियाँ नदियों के किनारे विकसित हुईं।
गंगा, यमुना, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, ब्रह्मपुत्र, सिंधु की सहायक नदियाँ—इन सभी ने अपने-अपने क्षेत्रों में जीवन की विशिष्ट परिस्थितियाँ बनाई हैं।
नदी—
पीने का जल देती है,
कृषि को सिंचाई देती है,
बस्तियों को आकर्षित करती है,
व्यापार को जन्म देती है,
धार्मिक परंपराओं को आकार देती है।
इस प्रकार नदी एक प्राकृतिक इकाई से बढ़कर **सांस्कृतिक अक्ष** बन जाती है।

7.4 हिमालयी भू-संस्कृतियाँ

हिमालय में संस्कृति ऊँचाई और घाटियों के अनुसार बदलती है।
कहीं बागवानी प्रमुख है, कहीं पशुपालन, कहीं पर्वतीय कृषि, कहीं वन-आधारित आजीविका।
स्थानीय वास्तुकला भी पर्यावरण के अनुरूप विकसित हुई—पत्थर, लकड़ी, ढलानदार छतें और स्थानीय निर्माण तकनीक इसके उदाहरण हैं।
यहाँ पर्वत केवल भौगोलिक बाधा नहीं बल्कि सांस्कृतिक पहचान का आधार भी है।

7.5 गंगा की सांस्कृतिक पट्टी

गंगा के मैदान में कृषि, नगर, तीर्थ, शिक्षा, व्यापार और साहित्य का लंबा इतिहास है।
वाराणसी, प्रयागराज, हरिद्वार, पटना, भागलपुर, कानपुर और अन्य नगरों की पहचान अलग-अलग होते हुए भी व्यापक नदी-संस्कृति से जुड़ती है।
गंगा के साथ धार्मिक भावनाएँ, लोकगीत, मेले, तीर्थयात्राएँ और सामाजिक परंपराएँ जुड़ी हैं।
इसलिए गंगा घाटी को केवल नदी घाटी कहना पर्याप्त नहीं है। यह एक **बहुस्तरीय सांस्कृतिक क्षेत्र** है।

7.6 मरुस्थलीय संस्कृति

थार क्षेत्र में पानी का अभाव संस्कृति के अनेक रूपों में दिखाई देता है।
जल-संरक्षण तकनीकें, घरों की बनावट, वस्त्र, भोजन, पशुपालन और लोकसंगीत सभी पर शुष्क पर्यावरण की छाप दिखाई देती है।
रेगिस्तान में लोकसंगीत का विस्तार भी केवल मनोरंजन नहीं था; वह सामाजिक स्मृति और सामुदायिक पहचान का माध्यम था।
यहाँ प्रकृति और संस्कृति के बीच संबंध अत्यंत प्रत्यक्ष है।

7.7 अरावली की भू-सांस्कृतिक पट्टी

अरावली से जुड़े क्षेत्रों में पहाड़ी, अर्ध-शुष्क और मैदानी पर्यावरण का मिश्रण दिखाई देता है।
यहाँ वन, खनिज, कृषि और पशुपालन ने स्थानीय समाजों के जीवन को प्रभावित किया।
अरावली का संरक्षण इसलिए केवल पर्यावरणीय मुद्दा नहीं है; यह उन भू-सांस्कृतिक प्रणालियों के संरक्षण से भी जुड़ा है जो इस पर्वत-परिस्थिति पर निर्भर रही हैं।

7.8 मध्य भारत और वन संस्कृति

मध्य भारत के अनेक क्षेत्रों में वनों और आदिवासी समुदायों का संबंध अत्यंत पुराना और गहरा रहा है। वन केवल लकड़ी का स्रोत नहीं हैं, बल्कि भोजन, औषधि, पशु-चारा, आवास सामग्री और सांस्कृतिक पहचान के महत्वपूर्ण आधार भी रहे हैं। स्थानीय समुदायों की आजीविका, सामाजिक परंपराएँ और धार्मिक विश्वास भी अनेक स्थानों पर वन-पर्यावरण से जुड़े हुए हैं।

स्थानीय समुदायों के पारंपरिक ज्ञान में पौधों, मौसम, जल-स्रोतों और वन्यजीवन की गहरी समझ दिखाई देती है। यह ज्ञान लंबे अनुभवों और पीढ़ियों से चले आ रहे प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व का परिणाम है। भू-सांस्कृतिक मानचित्र इस ज्ञान को केवल लोक-संस्कृति के रूप में नहीं, बल्कि स्थानीय पारिस्थितिक ज्ञान और प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण के महत्वपूर्ण आधार के रूप में भी देखता है।

7.9 दक्कन और पठारी संस्कृति

दक्कन की विशिष्ट भौगोलिक संरचना ने यहाँ कृषि, पशुपालन और ग्रामीण बस्तियों की अलग-अलग शैलियों के विकास को प्रभावित किया है। काली मिट्टी, मानसूनी वर्षा, पठारी ढलान और जलाशयों की उपलब्धता ने स्थानीय कृषि व्यवस्था तथा जल-प्रबंधन के स्वरूप को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

महाराष्ट्र, कर्नाटक, तेलंगाना, आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु के आंतरिक क्षेत्रों में विभिन्न भाषाएँ, रीति-रिवाज और सांस्कृतिक परंपराएँ प्रचलित हैं। फिर भी, कुछ समान पर्यावरणीय परिस्थितियों के कारण कृषि, पशुपालन और जल-संरक्षण की प्रणालियों में समानताएँ दिखाई देती हैं। यही भू-सांस्कृतिक अध्ययन की विशेषता है—यह विविधता के भीतर समानता और समानता के भीतर विविधता दोनों को पहचानते हुए प्रकृति और संस्कृति के पारस्परिक संबंधों को स्पष्ट करता है।

7.10 पश्चिमी तट की समुद्री संस्कृति

केरल, कर्नाटक, गोवा और महाराष्ट्र का तटीय भूगोल समुद्र से गहराई से जुड़ा हुआ है। मत्स्य-व्यवसाय, नारियल उत्पादन, मसालों की खेती, समुद्री व्यापार, नौवहन और तटीय बस्तियाँ यहाँ की सांस्कृतिक पहचान के महत्वपूर्ण अंग हैं। समुद्र ने इन क्षेत्रों को भोजन और आजीविका के साधन उपलब्ध कराने के साथ-साथ बाहरी संसार के साथ व्यापारिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संपर्क स्थापित करने के अवसर भी प्रदान किए हैं।

समुद्री संपर्कों के माध्यम से विभिन्न विचारों, वस्तुओं, भाषाओं और परंपराओं का आदान-प्रदान हुआ, जिसने तटीय समाजों की सांस्कृतिक विविधता को प्रभावित किया। इस प्रकार तट केवल एक भौगोलिक सीमा नहीं, बल्कि प्रकृति, व्यापार और संस्कृतियों के मिलन का एक महत्वपूर्ण संपर्क क्षेत्र बन जाता है।

7.11 पूर्वी तट की डेल्टा संस्कृतियाँ

ओडिशा, आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु के तटीय क्षेत्रों में नदियों के डेल्टा तथा समुद्र के बीच मानव जीवन और सांस्कृतिक परंपराओं का विकास हुआ है। उपजाऊ जलोढ़ मिट्टी, धान-प्रधान कृषि, सिंचाई व्यवस्थाएँ, मंदिर संस्कृति,

समुद्री व्यापार और तटीय आजीविका इन क्षेत्रों के विभिन्न भू-सांस्कृतिक स्वरूपों को आकार देते हैं।

नदियों द्वारा लाई गई उपजाऊ मिट्टी ने कृषि को प्रोत्साहित किया, जबकि समुद्र ने व्यापार और संपर्क के नए अवसर प्रदान किए। दूसरी ओर, चक्रवात, तटीय बाढ़ और समुद्री जल के अतिक्रमण जैसी प्राकृतिक घटनाओं ने स्थानीय समुदायों के सामने निरंतर चुनौतियाँ उत्पन्न की हैं। इन परिस्थितियों के अनुरूप विकसित सामुदायिक तैयारी, स्थानीय अनुभव और आपसी सहयोग इस क्षेत्र की अनुकूलन क्षमता के महत्वपूर्ण पहलू हैं।

7.12 पूर्वोत्तर : पर्वत, नदी और जैव-सांस्कृतिक विविधता

पूर्वोत्तर भारत का भूगोल अत्यंत विविध और जटिल है। पर्वत, घाटियाँ, भारी वर्षा, घने वन और नदियाँ यहाँ की कृषि, आवास, परिवहन तथा जीवन-पद्धति को प्रभावित करती हैं। अनेक जनजातीय समुदायों की पारंपरिक भूमि-व्यवस्थाएँ, कृषि पद्धतियाँ, वस्त्र, भोजन, संगीत और त्योहार इस विशिष्ट प्राकृतिक परिवेश से जुड़े हुए हैं।

स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप विकसित कृषि प्रणालियाँ, वन-आधारित आजीविका और सामुदायिक संसाधन प्रबंधन यहाँ के पारंपरिक ज्ञान की महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं। पूर्वोत्तर को केवल एक सीमांत क्षेत्र के रूप में देखना उसके व्यापक भू-सांस्कृतिक महत्व को सीमित कर देगा। वास्तव में, यह भारत की जैव-सांस्कृतिक विविधता, पारंपरिक ज्ञान और प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व का एक प्रमुख क्षेत्र है।

7.13 भोजन भी भू-संस्कृति है

भू-सांस्कृतिक मानचित्र को समझने का एक सरल और प्रभावी माध्यम भोजन है। किसी क्षेत्र का भोजन वहाँ की जलवायु, मिट्टी, जल-संसाधनों, कृषि पद्धतियों और स्थानीय सांस्कृतिक परंपराओं से गहराई से जुड़ा होता है। जहाँ चावल प्रमुख खाद्य फसल है, वहाँ सामान्यतः पर्याप्त जल उपलब्धता और अनुकूल तापमान का प्रभाव दिखाई देता है। जहाँ गेहूँ प्रमुख है, वहाँ अलग कृषि-जलवायवीय परिस्थितियाँ देखने को मिलती हैं। बाजरा और ज्वार की प्रधानता अपेक्षाकृत कम वर्षा वाले क्षेत्रों में कृषि-अनुकूलन को दर्शाती है।

इसी प्रकार नारियल और मसालों की खेती तटीय आर्द्रता तथा स्थानीय जलवायु से जुड़ी है।
भोजन की विविधता केवल कृषि उत्पादन का परिणाम नहीं है, बल्कि उसमें स्थानीय स्वाद, पारिवारिक परंपराएँ, त्योहार और सामुदायिक पहचान भी समाहित हैं। अतः किसी क्षेत्र की खाद्य संस्कृति का अध्ययन उसके प्राकृतिक और सामाजिक इतिहास को समझने का माध्यम बन सकता है। अर्थात्—
हमारी थाली हमारे भूगोल की एक छोटी-सी प्रयोगशाला है।

7.14 वास्तुकला और भूगोल

पारंपरिक घरों और भवनों की संरचना का अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि वे अपने प्राकृतिक परिवेश और स्थानीय जलवायु के अनुरूप विकसित हुए हैं। भारी वर्षा वाले क्षेत्रों में ढलानदार छतें वर्षा-जल की निकासी में सहायक होती हैं, जबकि गर्म और शुष्क क्षेत्रों में मोटी दीवारें तथा आंतरिक आँगन घरों के तापमान को संतुलित रखने में उपयोगी होते हैं। हिमालयी क्षेत्रों में लकड़ी और पत्थर का उपयोग स्थानीय संसाधनों तथा भौगोलिक परिस्थितियों से जुड़ा रहा है।

इसी प्रकार भवनों की दिशा, खिड़कियों की व्यवस्था, छायादार स्थान और निर्माण सामग्री का चयन स्थानीय तापमान, वर्षा तथा उपलब्ध संसाधनों को ध्यान में रखकर किया जाता रहा है। इसलिए पारंपरिक वास्तुकला को केवल सौंदर्यशास्त्र या ऐतिहासिक विरासत के रूप में नहीं, बल्कि जलवायु-अनुकूल तकनीक और स्थानीय पर्यावरणीय ज्ञान के रूप में भी समझा जाना चाहिए। इसका अध्ययन आधुनिक टिकाऊ वास्तुकला के विकास में उपयोगी मार्गदर्शन प्रदान कर सकता है।

7.15 जल-संस्कृति

भारत की अनेक पारंपरिक जल-संरचनाएँ स्थानीय भूगोल, वर्षा और जल की आवश्यकताओं के अनुरूप विकसित हुई हैं। राजस्थान के जोहड़ और टांके, दक्षिण भारत के पारंपरिक जलाशय, हिमालय की जलधाराएँ, पूर्वोत्तर की स्थानीय जल-प्रणालियाँ तथा पश्चिमी भारत के कुएँ इसके प्रमुख उदाहरण हैं। इन संरचनाओं में स्थानीय समुदायों की जल-संबंधी समझ, निर्माण कौशल और सामूहिक प्रबंधन की परंपराएँ दिखाई देती हैं।
इन प्रणालियों ने पेयजल उपलब्ध कराने, सिंचाई, पशुपालन और भूजल पुनर्भरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इनके साथ अनेक सामाजिक और

सांस्कृतिक गतिविधियाँ भी जुड़ी रही हैं। आधुनिक समय में इनका पुनर्जीवन जल-संकट से निपटने तथा स्थानीय समुदायों की जल-सुरक्षा बढ़ाने में सहायक हो सकता है। इससे एक महत्वपूर्ण सिद्धांत सामने आता है—
जल-संरक्षण की तकनीक केवल इंजीनियरिंग नहीं; वह संस्कृति, सामुदायिक ज्ञान और प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व की परंपरा भी है।

7.16 तीर्थ और भूगोल

भारत के अनेक प्रमुख तीर्थ प्राकृतिक भूगोल से गहराई से जुड़े हुए हैं। नदियाँ, पर्वत, झीलें, समुद्र, संगम और वन धार्मिक आस्था के साथ-साथ सांस्कृतिक स्मृतियों तथा ऐतिहासिक परंपराओं का हिस्सा बने हैं। इन प्राकृतिक स्थलों ने तीर्थयात्राओं, स्थानीय बस्तियों, मेलों और सामाजिक संपर्कों के विकास को भी प्रभावित किया है।
प्राकृतिक परिवेश और धार्मिक परंपराओं के इस संबंध ने अनेक क्षेत्रों की विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान को आकार दिया है। साथ ही, तीर्थस्थलों पर बढ़ती जनसंख्या, पर्यटन, कचरा और जल-संसाधनों पर दबाव पर्यावरण संरक्षण की आवश्यकता को भी रेखांकित करते हैं। इसलिए तीर्थ-भूगोल को समझने के लिए प्राकृतिक भूगोल, सांस्कृतिक इतिहास और पर्यावरणीय संतुलन—तीनों का समन्वित अध्ययन आवश्यक है।

7.17: 86- क्षेत्रों का उद्देश्य

86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों का उद्देश्य भारत को अनावश्यक रूप से छोटे-छोटे हिस्सों में बाँटना नहीं है। इसका उद्देश्य यह दिखाना है कि प्राकृतिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाएँ किस प्रकार एक-दूसरे से जुड़ी हैं।

यह विभाजन प्रशासनिक सीमा का विकल्प नहीं है। बल्कि यह एक **व्याख्यात्मक मानचित्र** है—ऐसा मानचित्र जो हमें बताता है कि किसी स्थान को केवल उसके राज्य के नाम से नहीं, बल्कि उसकी **भूमि–जल–जलवायु–समाज–संस्कृति** की संयुक्त पहचान से समझा जा सकता है।

अध्याय-8
15 → 50 → 86
तीनों मानचित्रों के बीच संबंध और उनका क्रमिक विकास

8.1 तीन संख्याएँ, एक विचार

15, 50 और 86 पहली दृष्टि में केवल तीन संख्याएँ लग सकती हैं।
लेकिन इस पुस्तक में ये तीन संख्याएँ भारत को देखने की तीन क्रमिक दृष्टियों का प्रतिनिधित्व करती हैं।
15-हमें व्यापक प्राकृतिक-कृषि क्षेत्र दिखाता है।
50-हमें भौतिक धरातल की अधिक सूक्ष्म संरचना दिखाता है।
86-हमें प्रकृति और मानव संस्कृति के परस्पर संबंधों का सूक्ष्म मानचित्र देता है।
इसलिए—
15 → 50 → 86 केवल संख्या का विस्तार नहीं, दृष्टि का विस्तार है।

8.2 पहला चरण: 15-व्यापक पर्यावरणीय भारत

15 कृषि-जलवायवीय क्षेत्र भारत को व्यापक पर्यावरणीय इकाइयों में देखते हैं।
यहाँ मुख्य प्रश्न हैं—
वर्षा कितनी है?
तापमान कैसा है?
मिट्टी कैसी है?
जल उपलब्धता कितनी है?
कृषि की संभावनाएँ क्या हैं?
कौन-सी फसलें उपयुक्त हैं?
यह दृष्टि **मैक्रो-लेवल** की है।
उदाहरण के लिए, पश्चिमी शुष्क क्षेत्र और पश्चिमी तट को एक ही कृषि प्रणाली के रूप में नहीं देखा जा सकता क्योंकि दोनों की जलवायु और जल उपलब्धता अत्यंत भिन्न है।

इसी प्रकार हिमालय और गंगा मैदान कृषि-जलवायु की दृष्टि से अलग संसार हैं।

8.3 दूसरा चरण: 50 — धरती की आंतरिक संरचना

जब हम 15 बड़े क्षेत्रों के भीतर जाते हैं तो विविधता बढ़ती है।
एक ही कृषि-जलवायवीय क्षेत्र में अलग-अलग पर्वत, घाटियाँ, पठार, नदी-घाटियाँ या तटीय भूभाग हो सकते हैं।
इसलिए 50 भौतिक इकाइयाँ हमें अधिक सूक्ष्म धरातलीय वास्तविकता दिखाती हैं।
यहाँ प्रश्न बदल जाता है—
किस प्रकार की धरती पर यह जलवायु कार्य कर रही है?
पर्वत की ढलान पर वर्षा का प्रभाव मैदान से अलग होगा।
पठार पर वर्षा का जल व्यवहार डेल्टा से अलग होगा।
मरुस्थल में वही वर्षा जो किसी अन्य क्षेत्र के लिए अपर्याप्त नहीं होगी, अत्यंत महत्वपूर्ण हो सकती है।

8.4 तीसरा चरण: 86 — मनुष्य कहाँ आता है?

अब तीसरा प्रश्न सामने आता है—
इन प्राकृतिक परिस्थितियों के बीच मनुष्य ने क्या बनाया?
यहीं 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र सामने आते हैं।
मनुष्य ने—
कृषि की,
पशुपालन किया,
गाँव बसाए,
नगर बनाए,
व्यापार विकसित किया,
नदियों के साथ धार्मिक संबंध बनाए,
लोकगीत रचे,
जल-संरचनाएँ बनाईं,
स्थानीय वास्तुकला विकसित की,
पर्व और मेले विकसित किए,
प्रकृति के साथ अनुकूलन के तरीके खोजे।
इस प्रकार 86 क्षेत्र प्राकृतिक भूगोल को मानव अनुभव से जोड़ते हैं।

8.5 तीनों मानचित्रों का संबंध

इसे एक सरल श्रृंखला से समझा जा सकता है—

जलवायु → धरातल → जल → कृषि → आजीविका → बस्ती → समाज → संस्कृति

और यही क्रम पुस्तक के तीन मानचित्रों में दिखाई देता है—

15 कृषि-जलवायवीय क्षेत्र

↓

50 भौगोलिक-भौतिक इकाइयाँ

↓

86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र

लेकिन यह संबंध एकतरफा नहीं है।

मनुष्य भी प्रकृति को बदलता है—

कृषि → सिंचाई → बाँध → नगर → सड़क → उद्योग → भूमि उपयोग परिवर्तन → पर्यावरणीय प्रभाव

अर्थात आधुनिक भूगोल में प्रकृति और मानव के बीच संबंध **द्विदिशात्मक** है।

8.6 एक उदाहरण : गंगा क्षेत्र

गंगा क्षेत्र को तीनों मानचित्रों से पढ़ें।

पहला मानचित्र

कृषि-जलवायु की दृष्टि से यह गंगा के मैदान का हिस्सा है।

दूसरा मानचित्र

यह विस्तृत जलोढ़ मैदान, नदी-घाटियों, सहायक नदियों और बाढ़-मैदानों से निर्मित है।

तीसरा मानचित्र

यही क्षेत्र गंगा-संस्कृति, कृषि परंपरा, तीर्थ, नगर, साहित्य, लोककथाओं और सामाजिक जीवन की अनेक परतें प्रस्तुत करता है।

एक ही भूभाग तीन अलग प्रश्नों के तीन अलग उत्तर देता है।

8.7 दूसरा उदाहरण : राजस्थान 15-का मानचित्र

पश्चिमी शुष्क कृषि-जलवायु क्षेत्र।

50-का मानचित्र

थार मरुस्थल, अरावली और उससे जुड़े मैदान एवं पठारी क्षेत्र।

86-का मानचित्र

जल-केंद्रित जीवन, पशुपालन, मरुस्थलीय कृषि, लोकसंगीत, रंगीन वस्त्र, पारंपरिक जल-संरचनाएँ और विशिष्ट सामाजिक-सांस्कृतिक प्रणालियाँ।
इस प्रकार एक भौगोलिक तथ्य धीरे-धीरे सांस्कृतिक अर्थ में परिवर्तित होता है।

8.8 तीसरा उदाहरण : पश्चिमी तट

15-के मानचित्र में यह पश्चिमी तट और घाट क्षेत्र है।
50-के मानचित्र में यह पश्चिमी घाट, संकीर्ण तटीय मैदान, नदियों और समुद्री भू-दृश्य का संयोजन है।
86-के मानचित्र में यही भूभाग समुद्री व्यापार, मछली-आधारित आजीविका, नारियल, मसाले, तटीय भोजन, स्थापत्य और समुद्र-केंद्रित जीवन-पद्धतियों का सांस्कृतिक क्षेत्र बन जाता है।

8.9 चौथा उदाहरण : हिमालय

15-में हिमालय कृषि-जलवायु की विशिष्ट इकाई है।
50-में हिमालय अनेक पर्वत-श्रृंखलाओं, घाटियों, ढलानों और नदी-उद्गम क्षेत्रों का जटिल भूभाग है।
86-में वही हिमालय अनेक पर्वतीय समुदायों, स्थानीय भाषाओं, बागवानी प्रणालियों, पशुपालन, लोकदेवताओं, पर्वतीय स्थापत्य और जल-संस्कृतियों का संसार बन जाता है।

यही इस पुस्तक की केंद्रीय अवधारणा है—
प्रकृति को पढ़िए, तो भूगोल मिलता है;
मनुष्य को पढ़िए, तो संस्कृति मिलती है;
दोनों को साथ पढ़िए, तो **भू-संस्कृति** मिलती है।

8.10: 15 → 50 → 86 : सूक्ष्मता की यात्रा

इस क्रम को तीन शब्दों में समझा जा सकता है—

15 — व्यापकता
बड़ी पर्यावरणीय तस्वीर।
50 — संरचना
धरती की भौतिक बनावट।
86 — पहचान
प्रकृति और मानव के संबंध से बनी क्षेत्रीय पहचान।
इस प्रकार तीनों मानचित्र क्रमशः—
Macro → Meso → Micro
दृष्टिकोण विकसित करते हैं।

8.11 प्रशासनिक भारत और भू-सांस्कृतिक भारत

राज्य और जिले आवश्यक प्रशासनिक इकाइयाँ हैं। उनका उद्देश्य शासन को व्यवस्थित करना है।
लेकिन भू-सांस्कृतिक क्षेत्र का उद्देश्य शासन की सीमाएँ निर्धारित करना नहीं है।
दोनों की भूमिकाएँ अलग हैं।
प्रशासनिक मानचित्र पूछता है:
"किस क्षेत्र का प्रशासन कौन करेगा?"
भौतिक मानचित्र पूछता है:
"यह भूमि किस प्रकार की है?"
कृषि-जलवायु मानचित्र पूछता है:
"इस पर्यावरण में कौन-सी कृषि प्रणाली उपयुक्त हो सकती है?"
भू-सांस्कृतिक मानचित्र पूछता है:
"इस भूमि और पर्यावरण के साथ यहाँ के लोगों का संबंध कैसे विकसित हुआ?"
इन प्रश्नों को मिलाने से भारत की अधिक समग्र समझ विकसित होती है।

8.12 विकास योजना के लिए तीनों मानचित्रों की उपयोगिता

यदि किसी क्षेत्र में नई विकास योजना बनानी हो तो केवल जिले की सीमा देखना पर्याप्त नहीं होगा।
पहला प्रश्न होना चाहिए—
15-का मानचित्र क्या कहता है?
अर्थात जलवायु और कृषि की स्थिति क्या है?

दूसरा—
50-का मानचित्र क्या कहता है?
अर्थात भूभाग की क्षमता और सीमाएँ क्या हैं?
तीसरा—
86-का मानचित्र क्या कहता है?
अर्थात स्थानीय समाज, संस्कृति और पारंपरिक ज्ञान की क्या भूमिका है?
तभी विकास योजना अधिक स्थानीय, पर्यावरण-अनुकूल और सामाजिक रूप से स्वीकार्य हो सकती है।

8.13 आपदा प्रबंधन में उपयोग

भारत में बाढ़, सूखा, भूस्खलन, चक्रवात, मरुस्थलीकरण, भूकंप और हिमालयी आपदाएँ विभिन्न क्षेत्रों को प्रभावित करती हैं।
15-का मानचित्र जलवायु और वर्षा की पृष्ठभूमि देता है।
50-का मानचित्र भौतिक संवेदनशीलता बताता है।
86-का मानचित्र स्थानीय समुदायों की जीवन-पद्धति, पारंपरिक ज्ञान और सामाजिक संरचना को समझने में सहायता कर सकता है।
इसलिए आपदा प्रबंधन भी केवल इंजीनियरिंग का विषय नहीं है; वह **भूगोल + पर्यावरण + समाज + संस्कृति** का संयुक्त विषय है।

8.14 जल-संरक्षण में उपयोग

यदि किसी क्षेत्र की वर्षा कम है, तो 15 का मानचित्र संकेत देगा कि जल-अभाव संरचनात्मक है।
50 का मानचित्र बताएगा कि जल कहाँ जमा हो सकता है—घाटी, पठार, चट्टानी क्षेत्र या जलोढ़ मैदान में।
86 का मानचित्र यह खोज सकता है कि स्थानीय समुदाय ने ऐतिहासिक रूप से जल का संरक्षण कैसे किया।
इस प्रकार—
आधुनिक विज्ञान + स्थानीय भूगोल + पारंपरिक ज्ञान
मिलकर अधिक प्रभावी जल-संरक्षण रणनीति बना सकते हैं।

8.15 जलवायु परिवर्तन के संदर्भ में 15 → 50 → 86

जलवायु परिवर्तन के दौर में इन तीनों मानचित्रों का महत्व और बढ़ जाता है।
यदि तापमान और वर्षा के पैटर्न बदलते हैं तो कृषि क्षेत्र प्रभावित होंगे।

यदि हिमनदों का व्यवहार बदलता है तो नदी प्रणालियाँ प्रभावित हो सकती हैं।
यदि समुद्र-स्तर और चक्रवात की प्रकृति बदलती है तो तटीय क्षेत्र प्रभावित होंगे। और
जब पर्यावरण बदलता है तो संस्कृति भी प्रभावित होती है—आजीविका, प्रवासन, भोजन, जल-स्रोत, बस्तियाँ और पारंपरिक ज्ञान सभी बदल सकते हैं।

इसलिए भविष्य के भारत के लिए भू-सांस्कृतिक मानचित्र केवल अतीत को समझने का माध्यम नहीं; यह **भविष्य की योजना का आधार** भी बन सकता है।

8.16 संरक्षण की नई परिभाषा

पर्यावरण संरक्षण को केवल वन बचाने तक सीमित नहीं किया जा सकता।
किसी क्षेत्र की नदी बचानी है तो उसकी नदी-संस्कृति को भी समझना होगा।
किसी पर्वत को बचाना है तो वहाँ की पारंपरिक आजीविका और स्थानीय समुदायों को समझना होगा।
मरुस्थल में जल बचाना है तो पारंपरिक जल-संरचनाओं का अध्ययन करना होगा।
तटीय क्षेत्र बचाना है तो समुद्री पारिस्थितिकी और स्थानीय समुदाय दोनों को साथ देखना होगा।
अर्थात—
प्रकृति का संरक्षण तभी टिकाऊ होगा जब वह समाज और संस्कृति के साथ संवाद करेगा।

8.17 तीन मानचित्रों से एक भारत

इन तीनों मानचित्रों को अलग-अलग देखने पर तीन प्रकार की सूचनाएँ मिलती हैं।
लेकिन जब इन्हें एक साथ रखा जाता है तो एक नई तस्वीर सामने आती है।
15-बताता है—भारत में प्राकृतिक परिस्थितियों की कितनी बड़ी विविधता है।
50-बताता है—उस विविधता का भौतिक आधार क्या है।
86-बताता है—उस भौतिक आधार पर मानव जीवन ने कितनी विविध सांस्कृतिक अभिव्यक्तियाँ विकसित की हैं।

इसलिए पुस्तक का शीर्षक—
“तीन मानचित्र, एक भारत”
केवल साहित्यिक अभिव्यक्ति नहीं है।
यह एक अध्ययन-पद्धति है।

8.18 तीन मानचित्रों का एकीकृत सूत्र

पूरे भाग को निम्न सूत्र में संक्षेपित किया जा सकता है—
जलवायु भूमि को प्रभावित करती है।
भूमि जल को प्रभावित करती है।
जल कृषि को प्रभावित करता है।
कृषि आजीविका को प्रभावित करती है।
आजीविका बस्ती और समाज को प्रभावित करती है।
समाज संस्कृति का निर्माण करता है।और
संस्कृति पुनः भूमि तथा संसाधनों के उपयोग को प्रभावित करती है।

इस प्रकार संबंध रैखिक नहीं, बल्कि चक्रीय है।
प्रकृति → मनुष्य → संस्कृति → संसाधन उपयोग → परिवर्तित प्रकृति
यही भू-सांस्कृतिक दृष्टि का मूल है।

8.19 एकीकृत भारत की अवधारणा

भारत की एकता को केवल राजनीतिक सीमाओं से समझना पर्याप्त नहीं है।
भारत की एकता की गहरी परतें उसके—
पर्वतों,
नदियों,
मानसून,
मिट्टी,
कृषि,
समुद्र,
वन,
लोकज्ञान,
व्यापार मार्ग,
तीर्थ,
भाषाओं,

भोजन,
लोककलाओं
में भी दिखाई देती हैं।
एक नदी अनेक राज्यों को जोड़ती है।
एक पर्वत अनेक समुदायों को जोड़ता है।
एक मानसून अनेक कृषि क्षेत्रों को जोड़ता है।
एक समुद्री तट अनेक बंदरगाहों और संस्कृतियों को जोड़ता है।
यही प्राकृतिक और सांस्कृतिक अंतर्संबंध भारत की वास्तविक अंतर्संबद्धता को सामने लाते हैं।

8.20 भाग–२ का निष्कर्ष

15 → 50 → 86 की यात्रा हमें भारत को तीन अलग-अलग स्तरों पर देखने की क्षमता प्रदान करती है।
पहले स्तर पर भारत एक विशाल कृषि-जलवायवीय प्रणाली है।
दूसरे स्तर पर वह पर्वत, मैदान, पठार, मरुस्थल, घाटी, तट और द्वीपों से बनी जटिल भौतिक संरचना है।
तीसरे स्तर पर वह असंख्य स्थानीय समाजों, भाषाओं, आजीविकाओं, लोकपरंपराओं, जल-संस्कृतियों और प्रकृति-आधारित जीवन-पद्धतियों से निर्मित भू-सांस्कृतिक सभ्यता है।
इसलिए भारत को समझने के लिए केवल यह पूछना पर्याप्त नहीं कि—
"यह स्थान किस राज्य में है?"
हमें आगे पूछना होगा—
"यहाँ की जलवायु कैसी है?"
फिर—
"यह भूमि किस प्रकार बनी है?"
और अंततः—
"इस भूमि के साथ यहाँ के लोगों ने किस प्रकार का संबंध विकसित किया है?"
इन तीन प्रश्नों का संयुक्त उत्तर ही हमें **भूगोल से संस्कृति और संस्कृति से संरक्षण** की ओर ले जाता है।

भाग–२ का केंद्रीय प्रतिपाद्य

15- क्षेत्र हमें भारत की जलवायु और कृषि की व्यापक तस्वीर देते हैं।

50- इकाइयाँ हमें भारत की धरती की भौतिक संरचना समझाती हैं।
86- भू-सांस्कृतिक क्षेत्र हमें बताते हैं कि उस धरती पर मानव जीवन और संस्कृति ने किस प्रकार अपना रूप ग्रहण किया।

इसलिए 15 → 50 → 86 केवल मानचित्रों का विस्तार नहीं, भारत को समझने की गहराती हुई दृष्टि है।

और इसी क्रम में पुस्तक का केंद्रीय विचार अधिक स्पष्ट होता है—
"भारत केवल राज्यों का समूह नहीं है; भारत प्रकृति, मनुष्य और संस्कृति के सह-अस्तित्व से निर्मित एक जीवंत भू-सांस्कृतिक सभ्यता है।"

संदर्भ-आधार: 15 कृषि-जलवायवीय क्षेत्रों का ऐतिहासिक क्षेत्रीय-योजना ढाँचा योजना आयोग के कृषि-जलवायवीय क्षेत्रीय नियोजन परियोजना (**Agro-Climatic Regional Planning Project**) से संबंधित है; सरकारी / शैक्षणिक स्रोत इसे 15 प्रमुख क्षेत्रों तथा आगे उप-क्षेत्रीय विभाजन के रूप में दर्ज करते हैं।

भाग–३ :
भू-सांस्कृतिक मानचित्र के सात आयाम

मानचित्र से जीवन तक

पिछले भाग में भारत को तीन परस्पर जुड़े मानचित्रों—**15 कृषि-जलवायवीय क्षेत्र, 50 भौगोलिक-भौतिक इकाइयाँ और 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र**—के माध्यम से समझने का प्रयास किया गया। इन तीनों मानचित्रों ने यह स्पष्ट किया कि भारत को केवल राजनीतिक सीमाओं, राज्यों और जिलों के आधार पर समझना पर्याप्त नहीं है। भारत की वास्तविक पहचान उसकी धरती, जल, जलवायु, कृषि, अर्थव्यवस्था, जैव-विविधता और संस्कृति के परस्पर संबंधों में निहित है।



चित्र 05 : भू-सांस्कृतिक मानचित्र के 7-घटक

अब प्रश्न यह है कि इन भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों को वास्तव में समझा कैसे जाए और उनकी विशिष्ट पहचान को किन आधारों पर निर्धारित किया जाए? किसी क्षेत्र की पहचान केवल उसके नाम, प्रशासनिक सीमाओं या भौगोलिक स्थिति से नहीं होती, बल्कि वहाँ की प्राकृतिक परिस्थितियों, संसाधनों, आजीविका, सामाजिक संबंधों और सांस्कृतिक परंपराओं के परस्पर जुड़ाव से निर्मित

होती है। किसी नदी के किनारे बसे गाँव की पहचान उस नदी से जुड़ी होती है, जो वहाँ के जल-संसाधनों, कृषि, बस्तियों और धार्मिक-सामाजिक गतिविधियों को प्रभावित करती है। इसी प्रकार किसी पर्वतीय समाज की जीवन-पद्धति वहाँ की ढलानों, जलस्रोतों, वनस्पति, तापमान और मौसमी परिस्थितियों से प्रभावित होती है।

किसी मरुस्थलीय समुदाय की संस्कृति जल की सीमित उपलब्धता, वर्षा की अनिश्चितता और जल-संरक्षण की पारंपरिक तकनीकों से जुड़ी होती है। वहीं, किसी तटीय समाज का भोजन, व्यापार, आजीविका और सामाजिक जीवन समुद्र, मत्स्य संसाधनों तथा समुद्री संपर्कों के कारण विशिष्ट स्वरूप ग्रहण करता है। इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि भूगोल केवल मानव जीवन की पृष्ठभूमि नहीं है, बल्कि वह स्थानीय समाज की आवश्यकताओं, व्यवहारों और सांस्कृतिक विकास को भी दिशा देता है। साथ ही, मनुष्य अपने ज्ञान, तकनीकों और सामूहिक प्रयासों के माध्यम से प्राकृतिक परिवेश को प्रभावित करता है तथा उसके अनुरूप जीवन-व्यवस्थाएँ विकसित करता है।

अतः किसी भू-सांस्कृतिक क्षेत्र को समझने के लिए केवल उसकी भौगोलिक विशेषताओं या सांस्कृतिक परंपराओं का अलग-अलग अध्ययन पर्याप्त नहीं होगा। हमें यह देखना होगा कि जल, भूमि, जलवायु, जैव-विविधता, कृषि, आजीविका, लोकज्ञान और सामाजिक संस्थाएँ एक-दूसरे से किस प्रकार जुड़ी हुई हैं। अर्थात्, किसी भू-सांस्कृतिक क्षेत्र को सही अर्थों में समझने के लिए उसकी समग्र जीवन-व्यवस्था को पढ़ना होगा, जिसमें प्रकृति, संस्कृति और समुदाय एक-दूसरे के पूरक बनकर क्षेत्र की विशिष्ट पहचान का निर्माण करते हैं।

इसी उद्देश्य से भू-सांस्कृतिक मानचित्र को सात प्रमुख आयामों को **चित्र: 05** में देखा जा सकता है—

धरती माता — भूविज्ञान
जल-ब्रह्म — जल विज्ञान
खेती से संस्कृति
स्थानीय अर्थव्यवस्था
पारिस्थितिकी
जलवायु और बदलता भारत
संस्कृति

ये सात आयाम स्वतंत्र खंड नहीं हैं। वे एक-दूसरे में प्रवाहित होते हैं।
धरती जल को प्रभावित करती है।
जल खेती को प्रभावित करता है।
खेती आजीविका को प्रभावित करती है।
आजीविका समाज को प्रभावित करती है।
समाज प्रकृति के साथ संबंध विकसित करता है।
जलवायु इस पूरे तंत्र को बदलती रहती है, और
इन सभी का सम्मिलित परिणाम संस्कृति के रूप में दिखाई देता है।

इस प्रकार —

भू-सांस्कृतिक मानचित्र वास्तव में जीवन का मानचित्र है।

अध्याय-9
धरती माता : भूविज्ञान

9.1 धरती: केवल भूमि नहीं, जीवन का आधार

मनुष्य जिस धरती पर चलता है, खेती करता है, घर बनाता है, सड़कें बनाता है और नगर बसाता है, वह केवल एक स्थिर सतह नहीं है। उसके नीचे करोड़ों वर्षों का भूवैज्ञानिक इतिहास छिपा हुआ है।

कहीं कठोर ग्रेनाइट है, कहीं बलुआ पत्थर, कहीं चूना पत्थर, कहीं बेसाल्ट, कहीं जलोढ़ मिट्टी और कहीं हिमानी अवसाद। कहीं ऊँचे पर्वत हैं, कहीं विस्तृत मैदान, कहीं पठार, कहीं घाटियाँ और कहीं समुद्री तट।

इन भौतिक संरचनाओं ने मानव जीवन की संभावनाओं और सीमाओं दोनों को निर्धारित किया है।

इसीलिए इस पुस्तक में धरती को **"धरती माता"** कहना केवल भावनात्मक अभिव्यक्ति नहीं है। यह उस गहरे संबंध को व्यक्त करता है जिसमें मनुष्य अपनी आजीविका, भोजन, आवास और सभ्यता के लिए पृथ्वी पर निर्भर है।

9.2 भूविज्ञान से भू-संस्कृति तक

भूविज्ञान सामान्यतः पृथ्वी की उत्पत्ति, संरचना, चट्टानों, खनिजों और भू-आकृतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है।

लेकिन भू-सांस्कृतिक दृष्टि इससे एक कदम आगे जाती है।

वह पूछती है—

किस प्रकार की चट्टान ने किस प्रकार की भूमि बनाई?
उस भूमि ने किस प्रकार की कृषि को संभव किया?
कृषि ने किस प्रकार की बस्ती बनाई?
बस्ती ने किस प्रकार की अर्थव्यवस्था विकसित की?
और उस अर्थव्यवस्था ने किस प्रकार की संस्कृति को जन्म दिया?

इस प्रकार भूविज्ञान से संस्कृति तक एक लंबी श्रृंखला बनती है।

9.3 भारत की भूवैज्ञानिक विविधता

भारत की भूवैज्ञानिक संरचना अत्यंत प्राचीन और विविध है।

प्रायद्वीपीय भारत का बड़ा भाग प्राचीन भू-खंडों से संबंधित है, जबकि हिमालय अपेक्षाकृत युवा और सक्रिय पर्वतीय प्रणाली है। इनके बीच विस्तृत जलोढ़ मैदान हैं, जिन्हें महान नदियों ने लंबे समय में निर्मित किया।
यहाँ तीन व्यापक भू-विश्व विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—
प्राचीन प्रायद्वीपीय पठार,
युवा हिमालय,
नदी-निर्मित विशाल मैदान।
इनके अतिरिक्त मरुस्थल, तटीय मैदान, डेल्टा और द्वीपीय भूभाग भारत की भौतिक विविधता को पूर्णता प्रदान करते हैं।

9.4 पर्वत: जल और जीवन के स्रोत

पर्वतों को अक्सर प्राकृतिक अवरोध के रूप में देखा जाता है, लेकिन उनका महत्व इससे कहीं अधिक है।
पर्वत वर्षा के वितरण को प्रभावित करते हैं। वे हिम और जल को संचित करते हैं। उनसे अनेक नदियाँ निकलती हैं। वे जैव-विविधता के महत्वपूर्ण केंद्र होते हैं और स्थानीय समुदायों को वन, औषधीय पौधे, चारा और अन्य संसाधन प्रदान करते हैं।
हिमालय इसका सबसे बड़ा उदाहरण है।
हिमालय की ऊँचाई और ढलान के साथ वनस्पति बदलती है। निचले क्षेत्रों में अलग प्रकार की वनस्पति, मध्य ऊँचाई पर अलग और ऊँचाई बढ़ने पर अलग पर्यावरण दिखाई देता है।
इस ऊँचाई-आधारित विविधता ने मानव जीवन को भी प्रभावित किया है।

9.5 हिमालय और भू-सांस्कृतिक जीवन

हिमालयी क्षेत्रों में गाँवों का स्थान, घरों की बनावट, कृषि की पद्धति, पशुपालन, परिवहन और स्थानीय देव-परंपराएँ सभी भौगोलिक परिस्थितियों से प्रभावित रही हैं।
ढलानदार भूमि में सीढ़ीदार खेती विकसित हुई। स्थानीय पत्थर और लकड़ी का उपयोग भवन निर्माण में हुआ। पर्वतीय नदियों और धाराओं के आधार पर जल-स्रोतों की व्यवस्था हुई।
इस प्रकार हिमालय में संस्कृति को समझने के लिए हिमालय के भूगोल को समझना आवश्यक है।

9.6 पठार: कठोर धरती और विशिष्ट जीवन

पठारी क्षेत्रों में भूमि अपेक्षाकृत ऊँची और विस्तृत होती है, लेकिन वहाँ मैदानों जैसी समतलता नहीं होती।

दक्कन का पठार इसका महत्वपूर्ण उदाहरण है।

बेसाल्टिक शैलों से विकसित काली मिट्टी ने अनेक क्षेत्रों में कपास जैसी फसलों के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ प्रदान कीं। दूसरी ओर पठारी ढलानों और वर्षा के मौसमी स्वरूप ने जल-संचयन की आवश्यकता उत्पन्न की।

मध्य भारत और दक्कन के अनेक क्षेत्रों में छोटे जलाशयों और तालाबों की परंपरा इसी आवश्यकता से जुड़ी रही।

9.7 मैदान : सभ्यता का विस्तार

नदी-निर्मित मैदान मानव सभ्यता के लिए विशेष रूप से अनुकूल रहे हैं।

समतल भूमि, उपजाऊ मिट्टी और जल की उपलब्धता ने कृषि को बढ़ावा दिया। कृषि अधिशेष ने नगरों, बाजारों और सामाजिक संस्थाओं के विकास को संभव बनाया।

गंगा का मैदान इसका महत्वपूर्ण उदाहरण है।

लेकिन मैदानों की अपनी चुनौतियाँ भी हैं—बाढ़, नदी-पथ परिवर्तन, जलभराव, भूजल दोहन और शहरी विस्तार।

अर्थात् उपजाऊ मैदान अवसर और जोखिम दोनों प्रदान करते हैं।

9.8 मिट्टी : धरती की जीवित परत

मिट्टी को अक्सर केवल कृषि का माध्यम समझा जाता है, लेकिन मिट्टी एक जटिल जीवित तंत्र है।

इसमें खनिज कण, जैविक पदार्थ, जल, वायु और सूक्ष्मजीवों का संबंध होता है।

भारत में जलोढ़, काली, लाल, लेटराइट, मरुस्थलीय और पर्वतीय मिट्टियों सहित अनेक प्रकार की मिट्टियाँ मिलती हैं।

प्रत्येक मिट्टी का कृषि उपयोग अलग है।

मिट्टी का रंग, बनावट, जल धारण क्षमता, उर्वरता और जैविक पदार्थ की मात्रा स्थानीय कृषि और जीवन को प्रभावित करते हैं।

9.9 मिट्टी और संस्कृति

किसी क्षेत्र की मिट्टी केवल फसल निर्धारित नहीं करती; वह स्थानीय भोजन और जीवन को भी प्रभावित करती है।

जहाँ धान की खेती होती है वहाँ चावल आधारित भोजन विकसित होता है। जहाँ गेहूँ प्रमुख है वहाँ आटे और रोटी की संस्कृति विकसित होती है। जहाँ बाजरा, ज्वार और अन्य मोटे अनाज अनुकूल होते हैं वहाँ उनसे जुड़े भोजन और परंपराएँ विकसित होती हैं।

इस प्रकार—

मिट्टी → फसल → भोजन → संस्कृति

एक स्पष्ट भू-सांस्कृतिक श्रृंखला बनती है।

9.10 खनिज और स्थानीय अर्थव्यवस्था

भूवैज्ञानिक संरचना का एक अन्य प्रभाव खनिज संसाधनों पर पड़ता है। कोयला, लौह अयस्क, बॉक्साइट, चूना पत्थर और अन्य खनिजों की उपलब्धता ने भारत के कई क्षेत्रों में उद्योगों के विकास को प्रभावित किया।

लेकिन खनिज-आधारित विकास के साथ पर्यावरणीय और सामाजिक प्रश्न भी उत्पन्न होते हैं। खनन से रोजगार और उद्योग मिल सकते हैं, लेकिन भूमि क्षरण, जल प्रदूषण, वन हानि और विस्थापन जैसी समस्याएँ भी उत्पन्न हो सकती हैं।

इसलिए भू-सांस्कृतिक दृष्टि संसाधन को केवल आर्थिक वस्तु नहीं मानती।

वह पूछती है—

इस संसाधन के साथ स्थानीय समाज का संबंध क्या है और उसके दोहन की पर्यावरणीय सीमा क्या है?

9.11 अरावली: भूविज्ञान से संरक्षण तक

अरावली पर्वतमाला का महत्व इस बात का महत्वपूर्ण उदाहरण है कि भूविज्ञान किस प्रकार पर्यावरण, प्राकृतिक संसाधनों और स्थानीय संस्कृति से गहराई से जुड़ा हुआ है। अरावली की प्राचीन शैल-संरचनाएँ, पहाड़ियाँ, घाटियाँ और उनसे जुड़े जलग्रहण क्षेत्र पश्चिमी भारत के पर्यावरणीय संतुलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यह पर्वतमाला भूजल पुनर्भरण, मिट्टी के संरक्षण, वनस्पति के विकास तथा स्थानीय जैव-विविधता को सहारा देने में योगदान करती है। इसके आसपास रहने वाले समुदायों की कृषि, पशुपालन,

जल-उपयोग और आजीविका भी इन प्राकृतिक परिस्थितियों से प्रभावित होती है।

अरावली का क्षरण केवल पहाड़ों के भौतिक स्वरूप को नहीं बदलता, बल्कि इससे जलग्रहण क्षेत्रों, वर्षा-जल के प्रवाह, भूजल स्तर, वनस्पति और स्थानीय पारिस्थितिकी पर भी प्रभाव पड़ सकता है। खनन, अनियोजित निर्माण और भूमि उपयोग में परिवर्तन जैसी गतिविधियाँ इन पर्यावरणीय चुनौतियों को बढ़ा सकती हैं। इसलिए अरावली का संरक्षण केवल भूवैज्ञानिक विरासत को सुरक्षित रखने का विषय नहीं, बल्कि जल-सुरक्षा, जैव-विविधता, स्थानीय आजीविका और क्षेत्रीय पर्यावरणीय स्थिरता से जुड़ा व्यापक दायित्व है।

इस प्रकार भू-सांस्कृतिक मानचित्र में पर्वत को केवल एक प्राकृतिक संसाधन या भौगोलिक संरचना के रूप में नहीं, बल्कि संरक्षण की एक महत्वपूर्ण इकाई के रूप में भी देखना आवश्यक है। अरावली का उदाहरण स्पष्ट करता है कि भूविज्ञान, पारिस्थितिकी और मानव जीवन को एकीकृत दृष्टि से समझकर ही दीर्घकालिक संरक्षण तथा सतत विकास की दिशा निर्धारित की जा सकती है।

9.12 अध्याय-9 का निष्कर्ष

धरती को समझे बिना संस्कृति को पूरी तरह और उसके वास्तविक स्वरूप में समझना संभव नहीं है। जिस भूमि पर कोई समाज विकसित होता है, वही उसकी कृषि, जल-संसाधनों, प्राकृतिक संपदा, बस्तियों, आजीविका और आर्थिक गतिविधियों की आधारभूमि बनती है। भूमि की प्रकृति, उसकी उर्वरता, भौगोलिक बनावट, जलवायु तथा प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता समाज की जीवन-पद्धति, सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक परंपराओं को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसी प्रकार, मानव की विभिन्न गतिविधियाँ भी भूमि, उसके संसाधनों और प्राकृतिक परिवेश को निरंतर प्रभावित करती हैं। इस प्रकार प्रकृति और मानव के बीच एक गहरा पारस्परिक संबंध स्थापित होता है, जो सभ्यता के विकास की दिशा निर्धारित करता है।

इसलिए भू-सांस्कृतिक अध्ययन हमें यह समझने की व्यापक दृष्टि प्रदान करता है कि धरती केवल भौतिक संसाधनों का संग्रह या आर्थिक उपयोग की वस्तु नहीं है, बल्कि मानव सभ्यता, सांस्कृतिक पहचान, सामाजिक समरसता

और क्षेत्रीय विकास का मूल आधार है। धरती की भौगोलिक एवं पारिस्थितिक विशेषताओं को समझकर ही हम किसी क्षेत्र की विशिष्ट संस्कृति, परंपराओं और जीवन-शैली को सही परिप्रेक्ष्य में जान सकते हैं। इसके संरक्षण और संतुलित उपयोग में ही प्राकृतिक संतुलन, स्थानीय आजीविका, सामुदायिक समृद्धि तथा भावी पीढ़ियों की सुरक्षा निहित है। वास्तव में, धरती केवल संपत्ति नहीं है; वह संस्कृति की जननी, सभ्यता की आधारशिला और भविष्य की जीवन-व्यवस्था को सुरक्षित रखने वाली मूल शक्ति है।

इसलिए पहला भू-सांस्कृतिक आयाम हमें यह महत्वपूर्ण संदेश देता है—
धरती केवल संपत्ति नहीं है; वह सभ्यता की आधारशिला, संस्कृति की जननी और मानव जीवन के सतत भविष्य का मूल आधार है।

अध्याय-10
जल-ब्रह्म : जल विज्ञान
नदी, तालाब, कुएँ, झील, भूजल और जलागम

10.1 जल : जीवन से आगे, सभ्यता का आधार
यदि धरती जीवन का आधार है तो जल उस जीवन का प्रवाह है।
भारत की सभ्यता का इतिहास मूलतः जल का इतिहास भी है।
नदियों के किनारे नगर बसे। तालाबों के आसपास गाँव विकसित हुए। कुओं ने शुष्क क्षेत्रों में जीवन को संभव बनाया। झीलों ने जल, कृषि और जैव-विविधता को सहारा दिया। पर्वतीय धाराओं ने घाटियों को जीवन दिया।
इसलिए जल को केवल संसाधन कहना पर्याप्त नहीं है।
जल **प्रकृति, अर्थव्यवस्था, समाज और संस्कृति**—चारों को जोड़ता है।

10.2 नदी : बहती हुई भू-संस्कृति
नदी का जीवन स्रोत से समुद्र तक चलता है, लेकिन उसका सांस्कृतिक प्रभाव उससे भी अधिक दूर तक फैलता है।
नदी के किनारे कृषि होती है। उसी के किनारे बाजार और नगर विकसित होते हैं। नदी परिवहन का माध्यम बनती है। नदी से धार्मिक आस्था जुड़ती है। लोकगीत और साहित्य नदी को अपनी स्मृति में स्थान देते हैं।
गंगा इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण है, लेकिन भारत की प्रत्येक प्रमुख नदी की अपनी क्षेत्रीय सांस्कृतिक पहचान है।

10.3 जलागम की अवधारणा
जलागम वह भौगोलिक क्षेत्र है जहाँ गिरने वाला वर्षाजल किसी निश्चित नदी, नाले, झील या जल निकासी प्रणाली की ओर प्रवाहित होता है।
भू-सांस्कृतिक दृष्टि से जलागम बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि प्रशासनिक सीमाएँ जलागम का पालन नहीं करतीं।
एक जलागम कई जिलों और राज्यों में फैल सकता है।
इसलिए नदी संरक्षण के लिए केवल एक नगर या एक जिले की योजना पर्याप्त नहीं हो सकती।

हमें पूरे जलागम को एक इकाई के रूप में देखना होगा।

10.4 तालाब : स्थानीय जल विज्ञान

भारत के पारंपरिक तालाब केवल पानी जमा करने के लिए नहीं बनाए गए थे।
वे—
सिंचाई,
पशुपालन,
भूजल पुनर्भरण,
मछली पालन,
घरेलू उपयोग,
सामुदायिक गतिविधियों
का आधार रहे हैं।
कई गाँवों में तालाब सामुदायिक जीवन का केंद्र हुआ करते थे।
तालाब की सफाई, जल उपयोग और संरक्षण सामाजिक उत्तरदायित्व का हिस्सा था।
इसलिए तालाब एक **जल-संरचना** के साथ-साथ **सामाजिक संस्था** भी था।

10.5 कुएँ और भूजल संस्कृति

शुष्क और अर्ध-शुष्क भारत में कुएँ जीवन के प्रमुख आधार रहे हैं।
कुएँ केवल जल स्रोत नहीं थे; वे सामाजिक मिलन के स्थल भी बनते थे।
कई क्षेत्रों में कुओं के निर्माण से संबंधित दान, धार्मिक परंपरा और सामुदायिक स्मृति विकसित हुई।
लेकिन आधुनिक युग में भूजल पंपिंग की क्षमता बढ़ने से जल का दोहन भी तेजी से बढ़ा है।
यहाँ जल विज्ञान और आधुनिक तकनीक के बीच संतुलन का प्रश्न उत्पन्न होता है।

10.6 झीलें और आर्द्रभूमियाँ

झीलें और आर्द्रभूमियाँ केवल जल का भंडार नहीं हैं।
वे पक्षियों, मछलियों, जलचर जीवों और अनेक पौधों का आवास होती हैं।
वे बाढ़ के प्रभाव को कम कर सकती हैं और स्थानीय जल चक्र में योगदान देती हैं।

कई झीलें पर्यटन और सांस्कृतिक गतिविधियों से भी जुड़ी हैं।
इसलिए किसी झील को केवल "जल निकाय" के रूप में नहीं बल्कि **जीवित पारिस्थितिक तंत्र** के रूप में देखना चाहिए।

10.7 नदी और धार्मिक संस्कृति

भारत में अनेक नदियाँ धार्मिक-सांस्कृतिक जीवन का हिस्सा हैं।
स्नान, तीर्थ, आरती, मेले, पर्व और नदी-तट के नगर इस संबंध को अभिव्यक्त करते हैं।
लेकिन इस आस्था का आधुनिक अर्थ यह भी होना चाहिए कि नदी की स्वच्छता और प्रवाह को बनाए रखना सामुदायिक जिम्मेदारी है।
यदि नदी प्रदूषित है तो केवल धार्मिक अनुष्ठान नदी को संरक्षित नहीं कर सकते।
आस्था को संरक्षण में परिवर्तित करना आवश्यक है।

10.8 जल और कृषि

कृषि जल पर अत्यधिक निर्भर है।
वर्षा-आधारित कृषि में मानसून का महत्व अधिक होता है। सिंचित कृषि में नहर, कुआँ, ट्यूबवेल और अन्य स्रोत महत्वपूर्ण होते हैं।
लेकिन सिंचाई का विस्तार यदि भूजल पुनर्भरण की क्षमता से अधिक हो जाए तो भविष्य में जल संकट उत्पन्न हो सकता है।
इसलिए कृषि-जल संबंध को **जल बजट** के आधार पर समझना आवश्यक है।

10.9 जल और स्थानीय अर्थव्यवस्था

जल की उपलब्धता किसी क्षेत्र की अर्थव्यवस्था को प्रभावित करती है।
कृषि, पशुपालन, मत्स्य पालन, उद्योग, पर्यटन और घरेलू जीवन सभी जल पर निर्भर हैं।
इसलिए किसी क्षेत्र में जल संकट केवल पेयजल का संकट नहीं होता। वह रोजगार, खाद्य सुरक्षा और सामाजिक स्थिरता का भी संकट बन सकता है।

10.10 जल-ब्रह्म की अवधारणा

"जल-ब्रह्म" का अर्थ यह नहीं कि जल को केवल धार्मिक प्रतीक बनाया जाए।

इसका अर्थ है कि जल को **जीवन की केंद्रीय प्रणाली** के रूप में समझा जाए।
वर्षा से लेकर नदी तक, नदी से भूजल तक, भूजल से खेत तक और खेत से भोजन तक—जल का एक निरंतर चक्र है।
इसीलिए जल संरक्षण को अलग विभाग का काम मानने के बजाय पूरे भू-सांस्कृतिक तंत्र का आधार मानना चाहिए।

10.11 अध्याय 9 का निष्कर्ष

जिस समाज ने अपने जल को समझ लिया, उसने अपने भविष्य को समझ लिया।

जल का संरक्षण केवल बाँध या पाइप लगाने से नहीं होगा।
वर्षा, जलागम, मिट्टी, वन, तालाब, नदी, भूजल और मानव उपयोग—सभी को एक साथ देखना होगा।

अध्याय-11
खेती से संस्कृति
बीज, फसल, पशुधन, कृषि-ज्ञान और भोजन

11.1 खेती: मनुष्य और प्रकृति का संवाद
कृषि मानव सभ्यता की सबसे पुरानी और सबसे गहरी गतिविधियों में से एक है। किसान केवल भूमि में बीज नहीं डालता। वह मौसम को पढ़ता है, मिट्टी को पहचानता है, पानी की प्रतीक्षा करता है, बीज चुनता है, पशुधन पालता है और फसल के साथ पूरे परिवार की अर्थव्यवस्था जोड़ता है। इसलिए खेती केवल उत्पादन प्रणाली नहीं है। **खेती एक ज्ञान प्रणाली है।**

11.2 बीज: भविष्य की स्मृति
बीज में केवल अगली फसल नहीं छिपी होती; उसमें पिछली पीढ़ियों का अनुभव भी छिपा होता है। किस बीज को कब बोना है, किस मिट्टी में कौन-सी किस्म बेहतर होगी, किसे सूखा सहन होता है, किसे अधिक पानी चाहिए—यह ज्ञान पीढ़ियों से हस्तांतरित हुआ है।

स्थानीय बीजों की विविधता कृषि को बदलते मौसम के प्रति अधिक अनुकूल बनाने में सहायक हो सकती है। इसलिए बीज संरक्षण को कृषि जैव-विविधता के संरक्षण से जोड़ना चाहिए।

11.3 फसल और क्षेत्रीय पहचान
भारत के अलग-अलग हिस्सों की पहचान उनकी फसलों से जुड़ी है।
कहीं धान प्रमुख है, कहीं गेहूँ, कहीं बाजरा, कहीं ज्वार, कहीं मक्का, कहीं दालें, कहीं मसाले और कहीं बागवानी। किसी क्षेत्र की प्रमुख फसल उसकी थाली, त्योहार और बाजार को भी प्रभावित करती है।

उदाहरण के लिए फसल कटाई से जुड़े अनेक पर्व भारत के कृषि कैलेंडर और सांस्कृतिक कैलेंडर दोनों का हिस्सा हैं।

11.4 पशुधन: कृषि का साथी

पारंपरिक कृषि में पशुधन की भूमिका बहुआयामी थी।
गाय, भैंस, बैल, बकरी, भेड़, ऊँट और अन्य पशु स्थानीय अर्थव्यवस्था के अलग-अलग हिस्सों से जुड़े रहे।
पशु—
दूध,
खाद,
परिवहन,
खेत की शक्ति,
ऊन,
चमड़ा,
भोजन
जैसे अनेक संसाधन प्रदान करते थे।
इसलिए कृषि और पशुपालन को अलग-अलग क्षेत्र मानना ऐतिहासिक रूप से उचित नहीं है।

11.5 भोजन: भूगोल की थाली

भारत का भोजन उसके भूगोल का प्रत्यक्ष प्रतिबिंब है।
धान-प्रधान क्षेत्रों की भोजन संस्कृति गेहूँ-प्रधान क्षेत्रों से अलग है।
तटीय क्षेत्रों में समुद्री भोजन और नारियल आधारित व्यंजन दिखाई देते हैं।
मरुस्थलीय क्षेत्रों में लंबे समय तक सुरक्षित रखे जा सकने वाले खाद्य पदार्थों की परंपराएँ विकसित हुईं।
पर्वतीय क्षेत्रों में स्थानीय अनाज, कंद, दालें और पशुपालन-आधारित भोजन महत्वपूर्ण रहे।
इसलिए—
भारत की थाली वास्तव में भारत का जीवित भू-सांस्कृतिक मानचित्र है।

11.6 कृषि और त्योहार

फसल का चक्र समय को भी सांस्कृतिक अर्थ देता है।
बुवाई, वर्षा, अंकुरण, फसल पकना और कटाई—इन सबके साथ अनेक लोकपरंपराएँ जुड़ी हैं।
कृषि-आधारित त्योहार केवल धार्मिक आयोजन नहीं हैं; वे सामाजिक सहयोग, श्रम और प्रकृति के प्रति कृतज्ञता की अभिव्यक्ति भी हो सकते हैं।

11.7 कृषि-ज्ञान की स्थानीयता

आधुनिक कृषि विज्ञान महत्वपूर्ण है, लेकिन स्थानीय ज्ञान की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। किसान अपने अनुभव से बादलों का स्वरूप, मिट्टी की नमी, पशुओं का व्यवहार, मौसम के संकेत और बीज की गुणवत्ता जैसी अनेक चीजें पहचान सकता है। इस ज्ञान को वैज्ञानिक परीक्षण के साथ जोड़ना भविष्य की टिकाऊ कृषि के लिए उपयोगी हो सकता है।

11.8 बदलती कृषि

कृषि अब केवल पारंपरिक ज्ञान, अनुभव और पीढ़ियों से चली आ रही खेती की पद्धतियों पर निर्भर नहीं रह गई है, बल्कि विज्ञान, आधुनिक तकनीक और नवाचार के समन्वय से निरंतर विकसित हो रही है। मशीनरी एवं कृषि उपकरणों का उपयोग, उन्नत एवं अधिक उत्पादक बीज, रासायनिक उर्वरक, कीटनाशक, आधुनिक सिंचाई प्रणालियाँ, डिजिटल कृषि, मौसम पूर्वानुमान, मृदा परीक्षण तथा बाजार संबंधी सूचनाओं की उपलब्धता ने कृषि के स्वरूप, कार्यक्षमता और उत्पादन क्षमता में व्यापक परिवर्तन किया है। इन तकनीकी सुविधाओं ने खेती को अधिक वैज्ञानिक, समयबद्ध और व्यावसायिक बनाने के साथ-साथ किसानों को उत्पादन बढ़ाने तथा कृषि संबंधी निर्णय लेने में भी सहायता प्रदान की है।

हालाँकि, आधुनिक कृषि तकनीकों और बढ़ते उत्पादन के साथ अनेक नई चुनौतियाँ भी सामने आई हैं। रासायनिक उर्वरकों एवं कीटनाशकों के अत्यधिक प्रयोग से मिट्टी की प्राकृतिक उर्वरता और जैविक संरचना का क्षरण, भूजल का अनियंत्रित दोहन, सिंचाई जल की बढ़ती मांग, कृषि निवेश एवं उत्पादन लागत में वृद्धि, बाजार मूल्यों में उतार-चढ़ाव, किसानों की आय में अनिश्चितता तथा जलवायु परिवर्तन के कारण अनियमित वर्षा, सूखा, बाढ़ और तापमान में वृद्धि जैसी समस्याएँ कृषि की स्थिरता को प्रभावित कर रही हैं। इसके अतिरिक्त, पारंपरिक फसल विविधता में कमी और प्राकृतिक संसाधनों पर बढ़ते दबाव ने कृषि एवं पर्यावरण के बीच संतुलन बनाए रखने की आवश्यकता को और अधिक महत्वपूर्ण बना दिया है।

इसलिए भविष्य की कृषि को केवल अधिक उत्पादन प्राप्त करने अथवा खाद्यान्न की मांग पूरी करने तक सीमित नहीं रखा जा सकता। इसके लिए पारंपरिक कृषि ज्ञान, आधुनिक वैज्ञानिक तकनीक, स्थानीय जलवायु, मृदा

की प्रकृति और उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों के बीच समन्वय स्थापित करना आवश्यक होगा। ऐसी कृषि व्यवस्था विकसित करनी होगी, जो किसानों की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने के साथ-साथ पोषण सुरक्षा, प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण, जैव विविधता और पर्यावरणीय संतुलन को भी प्राथमिकता दे। इसमें जैविक एवं प्राकृतिक खेती, सूक्ष्म सिंचाई, जल-संरक्षण, फसल विविधीकरण, सटीक कृषि (Precision Agriculture) तथा डिजिटल तकनीक की महत्वपूर्ण भूमिका होगी।

अतः भविष्य की कृषि को एक समग्र एवं सतत विकास के दृष्टिकोण से देखना होगा, जिसमें निम्नलिखित पाँच प्रमुख आधारों का संतुलित समन्वय हो—
उत्पादन + पोषण + पर्यावरण + किसान आय + जल संरक्षण
यही समन्वित दृष्टिकोण कृषि को केवल आजीविका का साधन नहीं, बल्कि खाद्य सुरक्षा, ग्रामीण समृद्धि, पारिस्थितिक संतुलन और भावी पीढ़ियों के सुरक्षित भविष्य का सशक्त आधार बना सकता है।

11.9 अध्याय-11 का निष्कर्ष

खेती केवल खेत में नहीं होती।
वह—
बीज में,
मिट्टी में,
जल में,
पशुधन में,
रसोई में,
त्योहार में,
बाजार में और
संस्कृति में
जीवित रहती है।

इसलिए खेती से संस्कृति की यात्रा भू-सांस्कृतिक मानचित्र का एक केंद्रीय आयाम है।

अध्याय-12
स्थानीय अर्थव्यवस्था
कृषि, वन, शिल्प, व्यापार और आजीविका

12.1 अर्थव्यवस्था का स्थानीय चेहरा

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को GDP, उद्योग, व्यापार और वित्तीय आँकड़ों से समझा जा सकता है, लेकिन किसी गाँव या क्षेत्र की वास्तविक अर्थव्यवस्था को समझने के लिए हमें स्थानीय जीवन देखना होगा।

किसान क्या उगाता है?
किसान की उपज कहाँ जाती है?
कौन उसे संसाधित करता है?
कौन शिल्प बनाता है?
कौन पशुपालन करता है?
कौन बाजार तक उत्पाद पहुँचाता है?
इन सभी गतिविधियों का नेटवर्क ही स्थानीय अर्थव्यवस्था बनाता है।

12.2 कृषि अर्थव्यवस्था का केंद्र

भारत के अनेक भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों में कृषि अभी भी अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार है।

लेकिन कृषि अकेली नहीं है।

कृषि से जुड़ी गतिविधियों में—
बीज,
खाद,
कृषि उपकरण,
परिवहन,
भंडारण,
प्रसंस्करण,
मंडी,
व्यापार
सभी शामिल हैं।

इसलिए किसान की आय केवल खेत की उपज से नहीं, पूरे कृषि-मूल्य शृंखला से प्रभावित होती है।

12.3 वन अर्थव्यवस्था

वन-आधारित समुदायों के लिए जंगल अर्थव्यवस्था का महत्वपूर्ण आधार है।
लघु वनोपज, औषधीय पौधे, फल, पत्ते, शहद, गोंद, बाँस और अन्य उत्पाद स्थानीय आजीविका से जुड़े हो सकते हैं।
वन संरक्षण और स्थानीय अर्थव्यवस्था को एक-दूसरे के विरोधी के रूप में देखना आवश्यक नहीं है।
यदि स्थानीय समुदायों को संरक्षण के साथ उचित आर्थिक अवसर मिलें तो वन संरक्षण अधिक टिकाऊ हो सकता है।

12.4 शिल्प : हाथों में भूगोल

भारतीय शिल्प परंपराएँ स्थानीय संसाधनों से गहराई से जुड़ी हैं।
जहाँ बाँस उपलब्ध है वहाँ बाँस-शिल्प विकसित हुआ।
जहाँ मिट्टी उपयुक्त है वहाँ मृद्भांड और मिट्टी की कला विकसित हुई।
जहाँ ऊन उपलब्ध है वहाँ ऊनी वस्त्र विकसित हुए।
जहाँ पत्थर उपलब्ध है वहाँ पत्थर की नक्काशी विकसित हुई।
इसलिए शिल्प को केवल कला के रूप में नहीं, **स्थानीय भू-संसाधनों और मानव कौशल के मिलन** के रूप में भी देखा जाना चाहिए।

12.5 व्यापार और भूगोल

व्यापार मार्गों ने भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों को जोड़ने का काम किया।
पर्वतीय मार्गों से नमक, ऊन और अन्य वस्तुएँ मैदानों तक आती थीं। तटीय क्षेत्रों से समुद्री व्यापार विकसित हुआ। नदी मार्गों ने आंतरिक व्यापार को बढ़ावा दिया।
बाजार केवल आर्थिक संस्था नहीं थे; वे सांस्कृतिक संपर्क के केंद्र भी बने।

12.6 स्थानीय बाजार और सामाजिक संबंध

साप्ताहिक हाट भारत के अनेक क्षेत्रों में स्थानीय अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण केंद्र रहे हैं। हाट में कृषि उत्पाद, पशु, शिल्प, भोजन और घरेलू वस्तुएँ मिलती

हैं। यहाँ आर्थिक लेन-देन के साथ सामाजिक संवाद भी होता है। इसलिए स्थानीय बाजार को भू-सांस्कृतिक संस्था के रूप में भी पढ़ा जा सकता है।

12.7 पर्यटन और भू-संस्कृति

प्राकृतिक और सांस्कृतिक विरासत पर्यटन की संभावना पैदा करती है।
पर्वत, झीलें, वन, तीर्थ, किले, मंदिर, लोककला और भोजन पर्यटन को आकर्षित कर सकते हैं।
लेकिन पर्यटन तभी टिकाऊ होगा जब स्थानीय समुदाय को उसका उचित लाभ मिले और पर्यावरण पर अत्यधिक दबाव न पड़े।

12.8 स्थानीय अर्थव्यवस्था का भविष्य

भविष्य की अर्थव्यवस्था में स्थानीय उत्पादों का महत्व बढ़ सकता है यदि उन्हें—
बेहतर बाजार,
डिजिटल प्लेटफॉर्म,
गुणवत्ता प्रमाणन,
प्रसंस्करण,
पैकेजिंग,
पर्यटन,
सहकारी संस्थाओं
से जोड़ा जाए।
लेकिन स्थानीयता का अर्थ केवल बाजार नहीं है।
स्थानीय अर्थव्यवस्था का उद्देश्य यह भी होना चाहिए कि समुदाय अपने संसाधनों पर ज्ञान और निर्णय की भूमिका बनाए रखे।

12.9 अध्याय 12 का निष्कर्ष

स्थानीय अर्थव्यवस्था किसी क्षेत्र की केवल आर्थिक समृद्धि अथवा उसकी आय का आधार नहीं होती, बल्कि वह उसकी सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक पहचान, सामुदायिक संबंधों और जीवन-पद्धति को भी निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। किसी क्षेत्र में उपलब्ध प्राकृतिक संसाधन, कृषि उत्पादन, वन संपदा, पारंपरिक शिल्प, लघु एवं कुटीर उद्योग तथा स्थानीय व्यापार वहाँ की आर्थिक गतिविधियों को दिशा देने के साथ-साथ समाज की परंपराओं, कौशल और सांस्कृतिक विरासत को भी संरक्षित रखते हैं।

जब कृषि, वन, शिल्प और व्यापार स्थानीय संसाधनों की उपलब्धता, उनकी वहन क्षमता तथा पर्यावरणीय संतुलन को ध्यान में रखते हुए विकसित होते हैं, तब अर्थव्यवस्था और पारिस्थितिकी एक-दूसरे के पूरक बनकर कार्य कर सकते हैं। इससे स्थानीय स्तर पर रोजगार के अवसर बढ़ते हैं, ग्रामीण आजीविका सुदृढ़ होती है, संसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग सुनिश्चित होता है और समुदायों की आत्मनिर्भरता को प्रोत्साहन मिलता है। इसके विपरीत, प्राकृतिक संसाधनों का अनियंत्रित दोहन और बाहरी आर्थिक गतिविधियों पर अत्यधिक निर्भरता स्थानीय अर्थव्यवस्था, सामाजिक समरसता तथा पर्यावरणीय स्थिरता को कमजोर कर सकती है।

इसलिए स्थानीय अर्थव्यवस्था का विकास केवल उत्पादन और बाजार तक सीमित न रहकर स्थानीय संसाधनों, पारंपरिक ज्ञान, सामुदायिक सहभागिता और प्राकृतिक संरक्षण के समन्वित दृष्टिकोण पर आधारित होना चाहिए। यही दृष्टिकोण किसी क्षेत्र की आर्थिक आत्मनिर्भरता के साथ उसकी सांस्कृतिक विशिष्टता और पारिस्थितिक सुरक्षा को भी बनाए रख सकता है।

वास्तव में, सशक्त स्थानीय अर्थव्यवस्था वही है, जो प्रकृति का संरक्षण करते हुए समाज की आजीविका, संस्कृति और सामुदायिक समृद्धि को निरंतर आगे बढ़ाए।

अध्याय-13
पारिस्थितिकी
जैव-विविधता और स्थानीय जीवन

13.1 पारिस्थितिकी : जीवन का अदृश्य जाल

किसी जंगल में केवल पेड़ नहीं होते।
वहाँ मिट्टी है, जल है, सूक्ष्मजीव हैं, पक्षी हैं, कीट हैं, पशु हैं और मनुष्य भी हैं।
एक प्रजाति में परिवर्तन दूसरी प्रजाति को प्रभावित कर सकता है।
यही पारस्परिक संबंध पारिस्थितिकी का मूल है।
भू-सांस्कृतिक दृष्टि में पारिस्थितिकी केवल वन्यजीव संरक्षण नहीं है। यह मनुष्य और उसके पर्यावरण के संबंध का अध्ययन भी है।

13.2 जैव-विविधता

भारत में पर्वतीय, वन, मरुस्थलीय, तटीय, समुद्री और आर्द्रभूमि पारिस्थितिक तंत्र पाए जाते हैं।
प्रत्येक पारिस्थितिक तंत्र में अलग प्रकार की जैव-विविधता होती है।
यह जैव-विविधता केवल वैज्ञानिक महत्व नहीं रखती; यह भोजन, औषधि, कृषि, संस्कृति और स्थानीय अर्थव्यवस्था से भी जुड़ी है।

13.3 वन और समाज

वनों से स्थानीय समुदायों का संबंध बहुत पुराना है।
पत्ते, फल, जड़ें, औषधीय पौधे, लकड़ी, चारा और शहद जैसे संसाधन आजीविका का हिस्सा रहे हैं।
लेकिन जंगल की रक्षा के लिए स्थानीय समुदायों की भागीदारी आवश्यक है।
वन संरक्षण यदि केवल बाहर से लागू नियम बन जाए तो स्थानीय ज्ञान और सामाजिक जिम्मेदारी की शक्ति कम हो सकती है।

13.4 जैव-सांस्कृतिक विविधता

जैव-विविधता और सांस्कृतिक विविधता कई स्थानों पर एक-दूसरे से जुड़ी होती हैं।

जहाँ अलग-अलग पारिस्थितिक तंत्र हैं वहाँ स्थानीय जीवन-पद्धतियाँ भी विविध होती हैं।
अलग वनस्पतियाँ अलग भोजन पैदा करती हैं। अलग पशु स्थानीय लोककथाओं और धार्मिक परंपराओं का हिस्सा बन सकते हैं। अलग जलवायु अलग वास्तुकला और वस्त्रों को जन्म दे सकती है।
इसलिए जैव-सांस्कृतिक विविधता को एक संयुक्त अवधारणा के रूप में समझना उपयोगी है।

13.5 पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान

स्थानीय समुदायों ने पीढ़ियों से अपने पर्यावरण का अवलोकन किया है।
कौन-सा पौधा औषधीय है?
कौन-सा पेड़ जल-स्रोत के पास उगता है?
कौन-सा मौसम किस फसल के लिए उपयुक्त है?
कौन-से पक्षी मौसम परिवर्तन का संकेत देते हैं?
ऐसे ज्ञान को वैज्ञानिक शोध के साथ जोड़कर समझना आवश्यक है।

13.6 पवित्र उपवन और संरक्षण

भारत के अनेक हिस्सों में ऐसे वनखंड, वृक्ष समूह और प्राकृतिक क्षेत्र रहे हैं, जिन्हें धार्मिक आस्था, आध्यात्मिक विश्वासों तथा सामाजिक परंपराओं के कारण लंबे समय से संरक्षित रखा गया है। इन्हें सामान्यतः पवित्र उपवन (Sacred Groves) के रूप में जाना जाता है। स्थानीय समुदाय इन क्षेत्रों को देवी-देवताओं, ग्राम देवताओं अथवा प्रकृति की दिव्य शक्तियों से जोड़कर देखते हैं और इनके वृक्षों तथा वनस्पतियों को काटने या नुकसान पहुँचाने से परहेज करते हैं।

इन पवित्र उपवनों का केवल धार्मिक और सांस्कृतिक महत्व ही नहीं है, बल्कि इनका वैज्ञानिक एवं पारिस्थितिक मूल्य भी अत्यंत महत्वपूर्ण हो सकता है। लंबे समय तक मानवीय हस्तक्षेप से मुक्त रहने के कारण यहाँ स्थानीय वनस्पतियों, औषधीय पौधों, पक्षियों, कीटों तथा अन्य जीव-जंतुओं की जैव-विविधता सुरक्षित रह सकती है। ये क्षेत्र प्राकृतिक आवासों के संरक्षण, स्थानीय जल-स्रोतों की सुरक्षा और पारिस्थितिक संतुलन बनाए रखने में भी योगदान दे सकते हैं।

इससे यह महत्वपूर्ण संकेत मिलता है कि संस्कृति केवल सामाजिक पहचान और परंपराओं का माध्यम नहीं है, बल्कि वह कई बार प्रकृति संरक्षण की एक प्रभावी सामाजिक संस्था के रूप में भी कार्य कर सकती है। इस प्रकार पारंपरिक आस्था और आधुनिक वैज्ञानिक समझ का समन्वय जैव-विविधता संरक्षण को अधिक प्रभावी बना सकता है।

13.7 मानव-वन्यजीव संबंध

जैसे-जैसे मानव बस्तियों का विस्तार होता है और कृषि क्षेत्र बढ़ते हैं, वैसे-वैसे वन्यजीवों के प्राकृतिक आवासों के साथ मानव गतिविधियों का संपर्क भी बढ़ने लगता है। वनों का विखंडन, प्राकृतिक गलियारों में अवरोध, सड़क निर्माण और संसाधनों के बढ़ते उपयोग के कारण वन्यजीवों के आवागमन तथा भोजन की उपलब्धता पर प्रभाव पड़ सकता है। परिणामस्वरूप, वन्यजीव कभी-कभी कृषि क्षेत्रों और मानव बस्तियों की ओर आने लगते हैं, जिससे मानव-वन्यजीव संघर्ष की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

इस संघर्ष के कारण फसलों को नुकसान, पशुधन पर हमले, मानव जीवन के लिए खतरे तथा वन्यजीवों की सुरक्षा से जुड़ी समस्याएँ सामने आती हैं। यह समस्या केवल वन्यजीवों को उनके प्राकृतिक आवास से हटाने अथवा केवल मनुष्य को इसके लिए दोषी ठहराने से हल नहीं हो सकती। इसके लिए मानव और वन्यजीवों के बीच संतुलित सह-अस्तित्व (Co-existence) की व्यवस्था विकसित करना आवश्यक है।

इस दिशा में प्राकृतिक आवासों का संरक्षण, वन्यजीव गलियारों की सुरक्षा, वैज्ञानिक भूमि उपयोग योजना, स्थानीय समुदायों की सक्रिय भागीदारी, उचित मुआवजा व्यवस्था तथा निरंतर वैज्ञानिक निगरानी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं। साथ ही, स्थानीय लोगों के पारंपरिक अनुभवों और वन्यजीवों के व्यवहार संबंधी ज्ञान को भी संरक्षण की योजनाओं में शामिल किया जाना चाहिए।

13.8 पारिस्थितिकी और विकास

विकास और पर्यावरण को परस्पर विरोधी मानना आवश्यक नहीं है। वास्तव में, सतत विकास की अवधारणा इस बात पर आधारित है कि आर्थिक प्रगति और प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण एक-दूसरे के पूरक बन सकते हैं। सड़क, आवास, ऊर्जा, सिंचाई, परिवहन और उद्योग जैसी आधारभूत सुविधाओं की आवश्यकता किसी भी क्षेत्र के सामाजिक एवं आर्थिक विकास

के लिए वास्तविक और महत्वपूर्ण है। लेकिन इन गतिविधियों का नियोजन स्थानीय पारिस्थितिकी, प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता, जैव-विविधता और पर्यावरणीय संवेदनशीलता को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए।

किसी क्षेत्र में जो विकास मॉडल सफल सिद्ध होता है, आवश्यक नहीं कि वही दूसरे क्षेत्र में भी समान रूप से उपयोगी हो। भौगोलिक बनावट, जलवायु, मिट्टी, जल-संसाधन, वनस्पति और स्थानीय समुदायों की आवश्यकताओं में अंतर होने के कारण एक समान विकास नीति कहीं-कहीं प्राकृतिक संसाधनों के क्षरण और पारिस्थितिक असंतुलन का कारण बन सकती है। यही कारण है कि भू-सांस्कृतिक मानचित्र आधारित योजना अधिक स्थानीय, व्यावहारिक और संवेदनशील विकास दृष्टिकोण प्रदान कर सकती है। इसके माध्यम से किसी क्षेत्र की प्राकृतिक विशेषताओं, सांस्कृतिक विरासत, संसाधनों, आजीविका और पर्यावरणीय चुनौतियों को एक साथ समझकर विकास की प्राथमिकताएँ निर्धारित की जा सकती हैं। इससे विकास योजनाओं को स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने और उनके दीर्घकालिक प्रभावों का आकलन करने में सहायता मिल सकती है।

13.9 अध्याय 13 का निष्कर्ष

प्रकृति में कोई भी तत्व अकेला नहीं है; प्रत्येक दूसरे से जुड़ा हुआ है।
जंगल, नदी, मिट्टी, जल, पशु-पक्षी, वनस्पतियाँ और मनुष्य एक व्यापक पारिस्थितिक तंत्र के अभिन्न अंग हैं। इनके पारस्परिक संबंध ही जीवन का संतुलन और पर्यावरणीय स्थिरता बनाए रखते हैं। किसी एक घटक में असंतुलन संपूर्ण पारिस्थितिकी को प्रभावित कर सकता है। पवित्र उपवनों की परंपरा, मानव-वन्यजीव सह-अस्तित्व और पर्यावरण अनुकूल विकास बताते हैं कि प्रकृति संरक्षण केवल वैज्ञानिक या प्रशासनिक नहीं, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक दायित्व भी है।

अतः जैव-विविधता की रक्षा केवल जीव-जंतुओं और वनस्पतियों का संरक्षण नहीं, बल्कि मानव सभ्यता, प्राकृतिक संसाधनों, सांस्कृतिक विरासत और भावी पीढ़ियों की सुरक्षा का प्रयास है। **वास्तव में, जैव-विविधता की रक्षा ही जीवन-व्यवस्था की रक्षा है और प्रकृति के साथ संतुलित सह-अस्तित्व ही मानव सभ्यता के सतत भविष्य का आधार है।**

अध्याय-14
जलवायु और बदलता भारत
जलवायु परिवर्तन, सूखा, बाढ़, हिमनद, गर्मी और अनुकूलन

14.1 बदलती जलवायु की चुनौती
जलवायु परिवर्तन आज भारत के लिए केवल पर्यावरणीय विषय नहीं है।
यह कृषि, जल, स्वास्थ्य, अर्थव्यवस्था, शहर, तट, पर्वत और ग्रामीण जीवन से जुड़ा विषय है।
भारत की विशाल भौगोलिक विविधता के कारण जलवायु परिवर्तन का प्रभाव सभी क्षेत्रों में समान नहीं होगा।
कहीं अत्यधिक गर्मी बढ़ सकती है, कहीं वर्षा की तीव्रता बदल सकती है, कहीं सूखे की अवधि बढ़ सकती है, कहीं बाढ़ का जोखिम बढ़ सकता है और हिमालयी क्षेत्रों में हिमनद तथा बर्फ से संबंधित परिवर्तन जल-प्रवाह को प्रभावित कर सकते हैं।

14.2 जलवायु और कृषि
कृषि मौसम पर अत्यधिक निर्भर है।
यदि मानसून देर से आए, जल्दी समाप्त हो जाए या कम समय में अत्यधिक वर्षा हो जाए तो कृषि प्रभावित हो सकती है।
फसल बोने का समय, सिंचाई की आवश्यकता, रोग और कीटों का व्यवहार तथा उत्पादन सभी बदल सकते हैं।
इसलिए भविष्य की कृषि को जलवायु-सहिष्णु बनाना आवश्यक है।

14.3 सूखा
सूखा केवल वर्षा की कमी नहीं है।
किसी क्षेत्र में वर्षा सामान्य होने के बावजूद यदि वह गलत समय पर हो, तापमान अधिक हो और मिट्टी में नमी कम हो तो कृषि सूखे जैसी परिस्थितियों का सामना कर सकती है।

सूखे से—
फसल उत्पादन,
पशुधन,
पेयजल,
भूजल,
रोजगार
प्रभावित होते हैं।
इसलिए सूखा प्रबंधन में जल-संचयन, मिट्टी की नमी संरक्षण, फसल विविधीकरण और स्थानीय जलागम प्रबंधन आवश्यक हैं।

14.4 बाढ़

बाढ़ भी केवल अत्यधिक वर्षा का परिणाम नहीं है।
बाढ़ की तीव्रता पर नदी का स्वरूप, जलागम, भूमि उपयोग, वनों की स्थिति, बाढ़-मैदान में निर्माण और जल निकासी जैसी अनेक चीजें प्रभाव डालती हैं।
नदी को पूरी तरह नियंत्रित करने के बजाय उसके प्राकृतिक बाढ़-मैदानों को समझना आवश्यक है।

14.5 हिमालय और बदलता जलवायु तंत्र

हिमालय जलवायु परिवर्तन के संदर्भ में अत्यंत संवेदनशील क्षेत्र है।
हिमनद, हिमपात, झीलें और पर्वतीय जलधाराएँ नीचे के मैदानों के जल तंत्र से जुड़ी हैं।
हिमनदों और बर्फ में परिवर्तन का प्रभाव अलग-अलग नदी घाटियों में अलग हो सकता है।
इसलिए हिमालय को केवल पर्यटन या धार्मिक क्षेत्र के रूप में नहीं, बल्कि **जल-सुरक्षा क्षेत्र** के रूप में भी समझना आवश्यक है।

14.6 हिमनद और भविष्य

हिमनदों के अध्ययन में केवल उनका क्षेत्रफल देखना पर्याप्त नहीं है।
हिमनद की मोटाई, द्रव्यमान संतुलन, हिमपात, तापमान, पिघलन, हिमानी झीलें और नीचे की नदी-प्रणाली सभी को साथ देखना चाहिए।

विशेष रूप से पर्वतीय झीलों के अचानक जल-प्रवाह और ग्लेशियल झील विस्फोट जैसी घटनाओं के जोखिम को वैज्ञानिक निगरानी की आवश्यकता होती है।

14.7 अत्यधिक गर्मी

भारत के मैदानी और शहरी क्षेत्रों में अत्यधिक गर्मी का प्रभाव मानव स्वास्थ्य और श्रम उत्पादकता पर पड़ सकता है।
शहरों में कंक्रीट, कम हरियाली और ऊष्मा-संचय गर्मी को बढ़ा सकते हैं।
इसलिए—
शहरी हरित क्षेत्र,
छायादार स्थान,
जल-संरक्षण,
भवनों का जलवायु-अनुकूल डिजाइन,
कार्य समय में परिवर्तन,
सार्वजनिक चेतावनी प्रणाली
जैसे उपाय महत्वपूर्ण हैं।

14.8 तटीय भारत और जलवायु परिवर्तन

समुद्र-स्तर में परिवर्तन, तटीय क्षरण, चक्रवात, समुद्री जल का भूमि में प्रवेश और तटीय पारिस्थितिकी पर दबाव तटीय क्षेत्रों के लिए महत्वपूर्ण चुनौतियाँ हैं।
मैंग्रोव जैसे पारिस्थितिक तंत्र तटीय सुरक्षा में भूमिका निभा सकते हैं।
इसलिए तटीय विकास में प्राकृतिक तटीय प्रणालियों को योजना का हिस्सा बनाना आवश्यक है।

14.9 अनुकूलन : केवल आपदा के बाद नहीं

जलवायु परिवर्तन के संदर्भ में दो प्रमुख दृष्टिकोण हैं—
शमन और **अनुकूलन**।
शमन का अर्थ ग्रीनहाउस गैस उत्सर्जन को कम करना है।
अनुकूलन का अर्थ बदलती परिस्थितियों के अनुरूप समाज, कृषि, जल और अवसंरचना को तैयार करना है।
भारत जैसे विशाल देश में दोनों आवश्यक हैं।

14.10 स्थानीय अनुकूलन

एक ही नीति सभी क्षेत्रों में समान रूप से प्रभावी नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्येक क्षेत्र की भौगोलिक बनावट, जलवायु, प्राकृतिक संसाधन, पारिस्थितिक परिस्थितियाँ और पर्यावरणीय चुनौतियाँ अलग-अलग होती हैं। इसलिए जलवायु परिवर्तन के प्रभावों से निपटने के लिए स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप अलग-अलग रणनीतियाँ विकसित करना आवश्यक है।

- हिमालय के लिए पर्वतीय ढलानों की स्थिरता, भूस्खलन की रोकथाम, हिमनदों का संरक्षण और पर्वतीय पारिस्थितिकी की सुरक्षा महत्वपूर्ण है।
- राजस्थान के लिए जल-संरक्षण, सूखा प्रबंधन, मरुस्थलीकरण पर नियंत्रण तथा बढ़ती गर्मी से निपटने के उपाय आवश्यक हैं।
- गंगा के मैदान के लिए बाढ़ नियंत्रण, भूजल संरक्षण, नदी प्रबंधन और जल निकासी की समुचित व्यवस्था महत्वपूर्ण हो सकती है।
- तटीय क्षेत्रों के लिए चक्रवात, समुद्री जलस्तर में वृद्धि, तटीय कटाव और खारे पानी के बढ़ते प्रभाव से निपटना प्रमुख चुनौती है।

इसलिए जलवायु अनुकूलन की सबसे प्रभावी योजना स्थानीय भू-सांस्कृतिक क्षेत्र को आधार बनाकर तैयार की जानी चाहिए, ताकि प्रत्येक क्षेत्र की प्राकृतिक विशेषताओं, सामाजिक आवश्यकताओं और उपलब्ध संसाधनों के अनुरूप व्यावहारिक एवं दीर्घकालिक समाधान विकसित किए जा सकें।

14.11 पारंपरिक ज्ञान और जलवायु अनुकूलन

स्थानीय समाजों ने सदियों के अनुभव, प्राकृतिक परिस्थितियों के अवलोकन और पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्राप्त ज्ञान के आधार पर बदलते मौसम तथा पर्यावरणीय चुनौतियों के अनुरूप अनेक उपयोगी प्रणालियाँ विकसित की हैं। यह पारंपरिक ज्ञान स्थानीय स्तर पर जलवायु परिवर्तन के प्रभावों को समझने और उनसे निपटने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

सूखा-प्रतिरोधी स्थानीय बीज, पारंपरिक जल-संरचनाएँ, मौसम के स्थानीय संकेत, पशुधन की विविधता, मिश्रित खेती तथा स्थानीय भवन निर्माण तकनीकें आधुनिक जलवायु अनुकूलन रणनीतियों के लिए महत्वपूर्ण आधार प्रदान कर सकती हैं। इन प्रणालियों में स्थानीय पर्यावरण के अनुरूप

विकसित अनुभव और संसाधनों के विवेकपूर्ण उपयोग की समझ निहित होती है।

हालाँकि, पारंपरिक ज्ञान को वैज्ञानिक परीक्षण, प्रमाण और स्थानीय परिस्थितियों के मूल्यांकन के बिना सार्वभौमिक समाधान नहीं मानना चाहिए। इसकी उपयोगिता बढ़ाने के लिए आधुनिक विज्ञान, अनुसंधान और नई तकनीकों के साथ इसका समन्वय आवश्यक है।
इस दिशा में सर्वोत्तम दृष्टिकोण है—
स्थानीय ज्ञान + आधुनिक विज्ञान + स्थानीय डेटा + सामुदायिक भागीदारी।
यह समन्वय जलवायु अनुकूलन को अधिक व्यावहारिक, स्वीकार्य और क्षेत्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप बना सकता है।

14.12 आपदा से लचीलापन तक

आपदा प्रबंधन का उद्देश्य केवल आपदा आने के बाद राहत और पुनर्वास तक सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि समुदायों में आपदाओं का सामना करने, उनसे शीघ्र उबरने और भविष्य के जोखिमों को कम करने की क्षमता विकसित करना भी होना चाहिए। इसी क्षमता को लचीलापन (Resilience) कहा जाता है।

लचीला समाज वह है, जो प्राकृतिक आपदाओं के प्रभावों को समझने, उनके प्रति पहले से तैयार रहने तथा संकट के बाद अपनी सामाजिक, आर्थिक और पर्यावरणीय व्यवस्था को पुनः स्थापित करने में सक्षम हो।
इसके लिए निम्नलिखित उपाय आवश्यक हैं—

- जोखिम मानचित्रण: बाढ़, भूस्खलन, सूखा और अन्य प्राकृतिक खतरों की संवेदनशीलता की पहचान।
- पूर्व चेतावनी प्रणाली: समय रहते सूचना पहुँचाने और सुरक्षित स्थानों तक पहुँचने की व्यवस्था।
- स्थानीय प्रशिक्षण: समुदायों में आपदा प्रबंधन संबंधी जागरूकता और व्यावहारिक क्षमता विकसित करना।
- सुरक्षित निर्माण: भौगोलिक एवं पर्यावरणीय परिस्थितियों के अनुरूप भवन और आधारभूत संरचनाओं का निर्माण।
- जलागम प्रबंधन: जल-संसाधनों, नदियों और प्राकृतिक जल निकासी प्रणालियों का संरक्षण।

- आपदा अभ्यास: नियमित मॉक ड्रिल और सामुदायिक तैयारी को प्रोत्साहित करना।
- संवेदनशील समूहों की सुरक्षा: महिलाओं, बच्चों, बुजुर्गों और दिव्यांगजनों की विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में रखना।

इन उपायों के माध्यम से स्थानीय समुदायों की तैयारी, संकट के समय प्रतिक्रिया क्षमता और आपदा के बाद पुनर्बहाली को अधिक प्रभावी बनाया जा सकता है। इस प्रकार आपदा प्रबंधन को राहत-केंद्रित दृष्टिकोण से आगे बढ़ाकर जोखिम न्यूनीकरण और दीर्घकालिक सामाजिक लचीलेपन की दिशा में विकसित किया जा सकता है।

14.13 अध्याय 14 का निष्कर्ष

जलवायु परिवर्तन केवल भविष्य की समस्या नहीं है, बल्कि यह वर्तमान में भी विकास योजनाओं, प्राकृतिक संसाधनों, कृषि, जल उपलब्धता और मानव जीवन को प्रभावित कर रहा है। इसके प्रभाव क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति, पारिस्थितिकी और सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग दिखाई देते हैं।

इसलिए जलवायु परिवर्तन से निपटने के लिए केवल व्यापक राष्ट्रीय नीतियाँ पर्याप्त नहीं हैं, बल्कि स्थानीय स्तर पर जोखिमों की पहचान, पारंपरिक ज्ञान का उपयोग, वैज्ञानिक अनुसंधान और सामुदायिक सहभागिता को भी समान महत्व देना आवश्यक है।

भू-सांस्कृतिक मानचित्र का छठा आयाम हमें यह महत्वपूर्ण संदेश देता है कि प्रत्येक क्षेत्र की प्राकृतिक परिस्थितियों और जलवायु संबंधी चुनौतियों को समझे बिना प्रभावी अनुकूलन रणनीति विकसित नहीं की जा सकती।

हर क्षेत्र की जलवायु-जोखिम प्रोफ़ाइल अलग है; इसलिए उसका अनुकूलन भी क्षेत्र-विशिष्ट, वैज्ञानिक, स्थानीय ज्ञान पर आधारित और सामुदायिक सहभागिता से संचालित होना चाहिए।

अध्याय-15
संस्कृति
लोकज्ञान, लोकपरंपरा, आस्था, भाषा और सामाजिक संस्थाएँ

15.1 संस्कृति : अंतिम आयाम या सभी आयामों का परिणाम?

भाग–III का अंतिम अध्याय संस्कृति पर है, लेकिन वास्तव में संस्कृति इन सभी अध्यायों में पहले से उपस्थित थी।
धरती ने जीवन को आकार दिया।
जल ने बस्ती को आकार दिया।
कृषि ने भोजन को आकार दिया।
अर्थव्यवस्था ने सामाजिक संबंधों को आकार दिया।
पारिस्थितिकी ने आजीविका और व्यवहार को प्रभावित किया।
जलवायु ने अनुकूलन को प्रभावित किया।
इन सभी के दीर्घकालीन परिणामों में संस्कृति विकसित हुई।
इसलिए संस्कृति केवल सातवाँ आयाम नहीं है; वह **पहले छह आयामों के साथ निरंतर संवाद का परिणाम** भी है।

15.2 लोकज्ञान

लोकज्ञान वह ज्ञान है जो समुदायों में अनुभव, अभ्यास और पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरण से विकसित होता है।
यह लिखित ग्रंथों में हमेशा दर्ज नहीं होता।
किसान का मौसम ज्ञान, चरवाहे का चरागाह ज्ञान, मछुआरे का समुद्र ज्ञान, वनवासी का पौधों का ज्ञान और कारीगर का स्थानीय सामग्री का ज्ञान—सभी लोकज्ञान के रूप हैं।
इस ज्ञान को संरक्षित करना सांस्कृतिक संरक्षण के साथ-साथ ज्ञान संरक्षण भी है।

15.3 लोकपरंपरा

लोकपरंपराएँ किसी समाज की सामूहिक स्मृति होती हैं।
लोकगीत, लोकनृत्य, कथाएँ, कहावतें, मेले और उत्सव केवल मनोरंजन नहीं हैं।
वे—
इतिहास,
पर्यावरण,
सामाजिक संबंध,
कृषि चक्र,
नैतिक मूल्य
को पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे ले जा सकते हैं।

15.4 भाषा और भूगोल

भाषाएँ भी भूगोल से प्रभावित होती हैं।
पर्वतीय क्षेत्रों में अलग-अलग घाटियों में भाषाई विविधता विकसित हो सकती है। नदी घाटियाँ सांस्कृतिक संपर्क के मार्ग बन सकती हैं। व्यापार मार्ग भाषाओं और शब्दावली को एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तक ले जा सकते हैं।
भारत की भाषाई विविधता इसलिए केवल भाषाविज्ञान का विषय नहीं है; वह भू-सांस्कृतिक विविधता का भी प्रतिबिंब है।

15.5 आस्था और प्रकृति

भारत की अनेक परंपराओं में प्रकृति के तत्वों के प्रति सम्मान दिखाई देता है।
नदी, पर्वत, वृक्ष, वन, पशु और जल-स्रोत विभिन्न धार्मिक और सांस्कृतिक परंपराओं में महत्व रखते हैं।
इसका आधुनिक अर्थ यह होना चाहिए कि आस्था और पर्यावरण संरक्षण के बीच रचनात्मक संबंध स्थापित किया जाए।
यदि नदी पूजनीय है तो उसकी स्वच्छता भी धार्मिक-सामाजिक जिम्मेदारी बननी चाहिए।
यदि वृक्ष पवित्र है तो वृक्ष संरक्षण भी उसी परंपरा का स्वाभाविक विस्तार होना चाहिए।

15.6 सामाजिक संस्थाएँ

गाँव की पंचायत, जल उपयोग की सामुदायिक व्यवस्था, चरागाह प्रबंधन, सहकारी संस्थाएँ, हाट और स्थानीय उत्सव—ये सभी सामाजिक संस्थाओं के उदाहरण हो सकते हैं।

इन संस्थाओं ने स्थानीय समाज को संसाधनों के प्रबंधन में भूमिका दी।

आज आधुनिक प्रशासन के साथ स्थानीय संस्थाओं का संवाद आवश्यक है।

15.7 संस्कृति और जल

भारत की जल-संस्कृति इसका उत्कृष्ट उदाहरण है।

तालाब की सफाई, कुएँ का रखरखाव, नदी के किनारे सामुदायिक गतिविधियाँ और वर्षा के स्वागत से जुड़े पर्व—इन सबमें जल का सांस्कृतिक महत्व दिखाई देता है।

यदि इन परंपराओं को आधुनिक जल विज्ञान से जोड़ा जाए तो जल संरक्षण की सामाजिक स्वीकृति बढ़ सकती है।

15.8 संस्कृति और कृषि

कृषि संस्कृति में मौसम, बीज, भोजन और त्योहारों का संबंध स्पष्ट है। फसल कटने के बाद उत्सव, नई फसल से बने भोजन, कृषि उपकरणों की पूजा और पशुधन से जुड़े आयोजन कृषि जीवन को सांस्कृतिक अर्थ देते हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि किसान का जीवन केवल आर्थिक गतिविधि नहीं है।

वह सांस्कृतिक जीवन का भी महत्वपूर्ण आधार है।

15.9 स्थापत्य और संस्कृति

स्थानीय भवनों की शैली में जलवायु, उपलब्ध सामग्री और सामाजिक जीवन का प्रभाव दिखाई देता है।

रेगिस्तान में अलग वास्तुकला, हिमालय में अलग, भारी वर्षा वाले तटीय क्षेत्र में अलग और गर्म मैदानों में अलग भवन शैली विकसित हुई।

आधुनिक वास्तुकला में स्थानीय जलवायु ज्ञान को पुनः अपनाना ऊर्जा दक्षता और सांस्कृतिक निरंतरता दोनों के लिए उपयोगी हो सकता है।

15.10 भोजन और सांस्कृतिक पहचान

भोजन सबसे प्रत्यक्ष सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों में से एक है।

किस क्षेत्र में कौन-सा अनाज, तेल, मसाला, सब्जी या पशु-उत्पाद उपलब्ध है, इससे वहाँ की भोजन शैली प्रभावित होती है।
भोजन के माध्यम से भूगोल घर की रसोई तक पहुँचता है।
इसलिए स्थानीय भोजन का संरक्षण केवल स्वाद का संरक्षण नहीं; यह कृषि जैव-विविधता और सांस्कृतिक स्मृति का संरक्षण भी है।

15.11 आधुनिकता और संस्कृति

संस्कृति स्थिर नहीं होती।
नई तकनीक, शिक्षा, प्रवासन, बाजार और डिजिटल संचार संस्कृति को बदलते हैं।
कुछ परंपराएँ समाप्त होती हैं, कुछ नए रूप में जीवित रहती हैं और कुछ नई परिस्थितियों के अनुसार बदलती हैं।
इसलिए संस्कृति संरक्षण का अर्थ अतीत को ज्यों का त्यों स्थिर करना नहीं है।
संस्कृति को जीवित रहने के लिए परिवर्तनशील भी होना पड़ता है।

15.12 भू-सांस्कृतिक संरक्षण

किसी भू-सांस्कृतिक क्षेत्र का संरक्षण केवल स्मारक बचाने से नहीं होगा।
हमें बचाना होगा—
स्थानीय जल,
स्थानीय बीज,
स्थानीय भोजन,
लोकभाषा,
शिल्प,
लोकसंगीत,
पारंपरिक ज्ञान,
जैव-विविधता,
सामुदायिक संस्थाएँ।
यानी संरक्षण का अर्थ **पूरे जीवन-तंत्र का संरक्षण** है।

15.13 नई पीढ़ी और सांस्कृतिक ज्ञान

यदि स्थानीय ज्ञान अगली पीढ़ी तक नहीं पहुँचेगा तो वह समाप्त हो सकता है।

विद्यालयों, विश्वविद्यालयों और स्थानीय संस्थाओं को मिलकर स्थानीय भू-सांस्कृतिक ज्ञान का दस्तावेजीकरण करना चाहिए।
बच्चों को अपने क्षेत्र की नदी, मिट्टी, फसल, लोकभाषा, भोजन, इतिहास और जैव-विविधता से परिचित कराना चाहिए।
इससे शिक्षा स्थानीय वास्तविकता से जुड़ती है।

15.14 डिजिटल युग और भू-सांस्कृतिक मानचित्र

आज डिजिटल मानचित्रण, GIS, रिमोट सेंसिंग, ड्रोन, मोबाइल एप्लिकेशन और डिजिटल अभिलेखागार के माध्यम से स्थानीय ज्ञान को दस्तावेजीकृत करना संभव है।
हर भू-सांस्कृतिक क्षेत्र के लिए एक डिजिटल प्रोफ़ाइल बनाई जा सकती है जिसमें—
प्राकृतिक संरचना,
जल स्रोत,
कृषि,
जैव-विविधता,
स्थानीय अर्थव्यवस्था,
भाषा,
भोजन,
शिल्प,
लोकपरंपरा,
जोखिम,
संरक्षण क्षेत्र
को एक साथ दर्ज किया जा सकता है।
इस प्रकार आधुनिक तकनीक पारंपरिक ज्ञान के संरक्षण की सहयोगी बन सकती है।

सातों आयामों का समेकित दर्शन

अब यदि अध्याय 9 से 15 तक के सातों आयामों को एक साथ देखा जाए तो एक वृत्ताकार संबंध सामने आता है—

1. धरती माता

भूमि, चट्टान, पर्वत, पठार और मैदान।

↓

2. जल-ब्रह्म

वर्षा, नदी, तालाब, झील, कुआँ, भूजल और जलागम।

↓

3. खेती

बीज, फसल, पशुधन और भोजन।

↓

4. स्थानीय अर्थव्यवस्था

कृषि, वन, शिल्प, व्यापार और आजीविका।

↓

5. पारिस्थितिकी

जैव-विविधता और जीवन का संतुलन।

↓

6. बदलती जलवायु

सूखा, बाढ़, गर्मी, हिमनद, चक्रवात और अनुकूलन।

↓

7. संस्कृति

लोकज्ञान, भाषा, आस्था, परंपरा और सामाजिक संस्थाएँ। लेकिन यह श्रृंखला अंत में फिर धरती पर लौटती है। संस्कृति यह निर्धारित करती है कि समाज धरती और जल का उपयोग कैसे करेगा।

इसलिए अंतिम संबंध है—
धरती → जल → खेती → अर्थव्यवस्था → पारिस्थितिकी → जलवायु → संस्कृति → पुनः धरती।
यही भू-सांस्कृतिक प्रणाली का चक्र है।

सात आयामों का एकीकृत मानचित्र

भू-सांस्कृतिक मानचित्र को यदि केवल रंगों और सीमाओं में नहीं बल्कि जीवन की परतों में देखा जाए, तो प्रत्येक क्षेत्र के लिए निम्नलिखित प्रोफ़ाइल बनाई जा सकती है—

आयाम	**मुख्य प्रश्न**
धरती माता	भूमि किस प्रकार की है?
जल-ब्रह्म	जल कहाँ से आता और कहाँ जाता है?

खेती	क्या उगता है और क्यों?
अर्थव्यवस्था	लोग आजीविका कैसे प्राप्त करते हैं?
पारिस्थितिकी	कौन-से जीव और प्राकृतिक तंत्र यहाँ हैं?
जलवायु	कौन-से जोखिम बढ़ रहे हैं?
संस्कृति	समाज ने प्रकृति के साथ कौन-सा संबंध बनाया है?

इस तालिका को 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों पर लागू किया जा सकता है। इससे प्रत्येक क्षेत्र का एक **समेकित भू-सांस्कृतिक प्रोफ़ाइल** तैयार होगा।

भाग–३ का निष्कर्ष : मानचित्र से जीवन-मानचित्र तक

भाग–३ का मूल उद्देश्य भारत के भू-सांस्कृतिक मानचित्र को केवल भौगोलिक सीमाओं का मानचित्र न मानकर **जीवन-प्रणालियों का मानचित्र** बनाना है।

अध्याय 9 हमें धरती तक ले जाता है।

अध्याय 10 धरती के भीतर और ऊपर प्रवाहित जल तक पहुँचाता है।

अध्याय 11 जल और मिट्टी से जुड़ी कृषि तथा भोजन की दुनिया दिखाता है।

अध्याय 12 बताता है कि कृषि, वन और संसाधन स्थानीय अर्थव्यवस्था को कैसे आकार देते हैं।

अध्याय 13 जीवन के व्यापक पारिस्थितिक तंत्र को सामने लाता है।

अध्याय 14 बताता है कि बदलती जलवायु इस पूरी व्यवस्था को किस प्रकार चुनौती दे रही है।

और अध्याय 15 इन सभी अनुभवों के दीर्घकालीन मानवीय परिणाम—**संस्कृति**—को सामने रखता है।

इस प्रकार भू-सांस्कृतिक मानचित्र केवल यह नहीं बताता कि **“कहाँ क्या है”**।

वह इससे आगे जाकर पूछता है—

“यह क्यों है?”

फिर—

“यह कैसे विकसित हुआ?”

और अंततः—

“इसे भविष्य के लिए कैसे सुरक्षित रखा जा सकता है?”

यहीं से भूगोल संरक्षण का आधार बनता है।

और यहीं से पुस्तक का अगला बौद्धिक चरण प्रारंभ होता है—

भूगोल को समझना → संस्कृति को समझना → स्थानीय ज्ञान को पहचानना → प्रकृति को संरक्षित करना → भविष्य को सुरक्षित करना।

इस दृष्टि से **86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र** केवल भारत को विभाजित करने वाली इकाइयाँ नहीं हैं।
वे भारत को **समझने, जोड़ने और संरक्षित करने की इकाइयाँ** हैं।

समापन सूत्र

धरती हमारी आधारभूमि है।
जल हमारी जीवनधारा है।
खेती हमारी खाद्य-स्मृति है।
अर्थव्यवस्था हमारी आजीविका है।
पारिस्थितिकी हमारा जीवन-जाल है।
जलवायु हमारा बदलता परिवेश है और
संस्कृति इन सभी के साथ मनुष्य के दीर्घकालीन संवाद की स्मृति है।

इन्हीं सात आयामों को एक साथ पढ़ने पर **भू-सांस्कृतिक भारत** की संकल्पना पूर्ण होती है।
और यही इस भाग का केंद्रीय संदेश है—

भारत को केवल मानचित्र पर मत देखिए;
भारत को उसकी धरती, जल, खेती, जीव-जगत, आजीविका और संस्कृति में देखिए। तभी मानचित्र जीवन का दर्पण बनता है।

भाग-४
भारत के 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र: विवरण, मानक व प्रक्रिया

अध्याय-16
भारत के 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र: प्रकृति, संस्कृति और संरक्षण का राष्ट्रीय सूक्ष्म मानचित्र तैयार करने की प्रक्रिया

भारत को समझने की यात्रा जब राजनीतिक सीमाओं से आगे बढ़ती है, तब हमारे सामने एक ऐसा देश दिखाई देता है जिसकी वास्तविक संरचना पर्वतों, नदियों, मैदानों, पठारों, वनों, मरुस्थलों, तटों और द्वीपों से मिलकर बनी है। इन प्राकृतिक संरचनाओं के बीच हजारों वर्षों से मानव समुदायों ने अपने जीवन के ऐसे रूप विकसित किए हैं जिनमें प्रकृति और संस्कृति एक-दूसरे से अलग नहीं दिखाई देतीं। किसी क्षेत्र की नदी वहाँ की खेती को प्रभावित करती है, खेती वहाँ के भोजन को जन्म देती है, भोजन और कृषि स्थानीय बाजार को आकार देते हैं, बाजार और आजीविका सामाजिक संबंधों को प्रभावित करते हैं और इन सबके बीच भाषा, लोकगीत, आस्था, पर्व, शिल्प और लोकज्ञान विकसित होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक भूभाग अपने भीतर प्रकृति और मानव के संबंध की एक विशिष्ट कहानी समेटे हुए है।

इसी दृष्टि से इस पुस्तक का भाग–४ **"भारत के 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र"** पुस्तक का सबसे विस्तृत और केंद्रीय भाग है। इसका उद्देश्य भारत को 86 कृत्रिम टुकड़ों में विभाजित करना नहीं, बल्कि उन विशिष्ट प्राकृतिक-सांस्कृतिक परिदृश्यों को पहचानना है जहाँ धरती, जल, जलवायु, कृषि, जैव-विविधता, अर्थव्यवस्था और संस्कृति ने मिलकर एक विशिष्ट जीवन-पद्धति का निर्माण किया है। ये क्षेत्र प्रशासनिक पुनर्गठन की इकाइयाँ नहीं हैं। इनका उद्देश्य राज्यों या जिलों की सीमाओं को बदलना भी नहीं है। इसके विपरीत, ये एक **व्याख्यात्मक भू-सांस्कृतिक ढाँचा** हैं, जिसके माध्यम से भारत के स्थानीय जीवन को उसकी प्राकृतिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के साथ समझा जा सके।

किसी नदी की धारा किसी राज्य की सीमा पर समाप्त नहीं होती और कोई पर्वत किसी जिले की प्रशासनिक सीमा को देखकर अपना विस्तार निर्धारित

नहीं करता। वर्षा का वितरण भी प्रशासनिक सीमाओं का अनुसरण नहीं करता और वन, मिट्टी, जलागम तथा पारिस्थितिकी की अपनी स्वतंत्र भौगोलिक निरंतरता होती है। इसी प्रकार लोकभाषा, भोजन, कृषि परंपरा, शिल्प और लोकसंस्कृति भी राजनीतिक सीमाओं के भीतर बंद नहीं रहती। इसलिए भारत को समझने के लिए एक ऐसा मानचित्र आवश्यक है जो प्रशासनिक सीमाओं के साथ-साथ प्रकृति और संस्कृति की निरंतरता को भी सामने रखे।

यही भू-सांस्कृतिक मानचित्र का मूल उद्देश्य है।

16.1 भूमिका : 86 क्षेत्रों में एक भारत

पुस्तक के प्रथम तीन भागों में भारत को समझने की वैचारिक और भौगोलिक आधारभूमि तैयार की गई है। पहले भाग में यह प्रश्न उठाया गया कि **भारत केवल राजनीतिक मानचित्र नहीं है**। दूसरे भाग में तीन मानचित्रों—**15 कृषि-जलवायवीय क्षेत्र, 50 भौगोलिक-भौतिक इकाइयाँ और 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र**—के माध्यम से भारत की विविधता को क्रमिक रूप से समझने का प्रयास किया गया। तीसरे भाग में भू-सांस्कृतिक मानचित्र के सात आयाम—धरती, जल, खेती, अर्थव्यवस्था, पारिस्थितिकी, जलवायु और संस्कृति—को विस्तार दिया गया।
अब पुस्तक का सबसे महत्वपूर्ण और विस्तृत भाग आरंभ होता है—

16.2 भारत के 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र

यह भाग केवल भारत को 86 भागों में बाँटने का प्रयास नहीं है। इसका उद्देश्य भारत की विविधता को **स्थानीय जीवन-प्रणालियों** के रूप में समझना है।
एक भू-सांस्कृतिक क्षेत्र वह स्थानिक इकाई है जहाँ—
भूगोल + जल + जलवायु + मिट्टी + कृषि + जैव-विविधता + अर्थव्यवस्था + लोकज्ञान + संस्कृति
एक-दूसरे से गहरे रूप में जुड़े दिखाई देते हैं।
इसलिए किसी क्षेत्र की पहचान केवल उसकी प्रशासनिक सीमा से नहीं की जाएगी। एक भू-सांस्कृतिक क्षेत्र एक राज्य की सीमा के भीतर हो सकता है, अनेक जिलों में फैल सकता है अथवा एक से अधिक राज्यों को जोड़ सकता है। उसका निर्धारण मुख्यतः **प्राकृतिक निरंतरता, जलागम, कृषि-पद्धति,**

पारिस्थितिकी, स्थानीय अर्थव्यवस्था और सांस्कृतिक निरंतरता के आधार पर किया जाएगा।

16.3 86-क्षेत्रों की आवश्यकता क्यों?

भारत में प्रशासनिक मानचित्र अत्यंत आवश्यक है। राज्य, जिला, तहसील और ग्राम शासन, कानून, विकास और प्रशासन की इकाइयाँ हैं। लेकिन प्रकृति इन सीमाओं का पालन नहीं करती।
नदी राज्य की सीमा पर रुकती नहीं।
पर्वत जिले की सीमा पर समाप्त नहीं होता।
वन प्रशासनिक सीमा के अनुसार नहीं उगता।
मानसून तहसील की सीमा देखकर वर्षा नहीं करता।
कृषि-परंपराएँ भी राजनीतिक सीमाओं से स्वतंत्र रूप से विकसित होती हैं।
इसीलिए एक नया प्रश्न सामने आता है—
क्या भारत को ऐसी इकाइयों में भी समझा जा सकता है जो प्रशासन के बजाय प्रकृति और संस्कृति की निरंतरता पर आधारित हों?
इसी प्रश्न का उत्तर है—**86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र।**

16.4 86-क्षेत्र : विभाजन नहीं, व्याख्या

यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र भारत के राज्यों या जिलों का विकल्प नहीं हैं।
इनका उद्देश्य प्रशासनिक पुनर्गठन करना भी नहीं है।
ये **व्याख्यात्मक क्षेत्र** हैं।
अर्थात इनका उद्देश्य यह समझना है कि किसी भूभाग की—
प्राकृतिक पहचान क्या है?
जल प्रणाली कैसी है?
कृषि किस प्रकार विकसित हुई?
स्थानीय अर्थव्यवस्था किन संसाधनों पर निर्भर है?
कौन-सी जैव-विविधता मौजूद है?
स्थानीय समाज प्रकृति से कैसे जुड़ा है?
कौन-सी भाषा और लोकपरंपरा विकसित हुई?
कौन-से पर्यावरणीय संकट सामने हैं?
संरक्षण की स्थानीय परंपराएँ क्या हैं?
इन प्रश्नों का उत्तर एक साथ प्राप्त करना।

16.5 प्रत्येक क्षेत्र के लिए समान प्रारूप क्यों?

86 क्षेत्रों का विवरण यदि अलग-अलग शैली में लिखा गया तो पाठक के लिए तुलना करना कठिन होगा।

उदाहरण के लिए यदि एक क्षेत्र में केवल कृषि का विवरण हो और दूसरे में केवल संस्कृति का, तो दोनों की तुलना संभव नहीं होगी।

इसलिए प्रत्येक क्षेत्र के लिए **20-बिंदु वाला समान वैज्ञानिक-सांस्कृतिक प्रारूप** अपनाया जाएगा।

इससे प्रत्येक क्षेत्र एक प्रकार का **भू-सांस्कृतिक डेटा-कार्ड** बन जाएगा।

इसके माध्यम से पाठक दो क्षेत्रों की तुलना कर सकेगा—

किस क्षेत्र में जल अधिक है?

कहाँ सूखा अधिक है?

कहाँ कौन-सी कृषि है?

कहाँ कौन-सी जैव-विविधता है?

कहाँ कौन-सी पारंपरिक जल प्रणाली है?

कहाँ कौन-सा पर्यावरणीय संकट है?

कहाँ संरक्षण की कौन-सी परंपरा है?

16.6 क्षेत्रीय प्रोफाइल का मानक प्रारूप

प्रत्येक 86 क्षेत्रों के लिए निम्नलिखित 20 शीर्षक अनिवार्य होंगे।

1). क्षेत्र का नाम

प्रत्येक क्षेत्र को ऐसा नाम दिया जाएगा जो उसकी भौगोलिक या सांस्कृतिक पहचान को स्पष्ट करे।

नामकरण में केवल किसी प्रशासनिक जिले का नाम उपयोग करना पर्याप्त नहीं होगा।

उदाहरण के लिए किसी क्षेत्र की पहचान—

नदी,

पर्वत,

पठार,

घाटी,

मरुस्थल,

तटीय पट्टी,

कृषि प्रणाली,
सांस्कृतिक परंपरा
से अधिक स्पष्ट हो सकती है।
जहाँ आवश्यक हो, क्षेत्र के नाम के साथ प्रमुख भौगोलिक पहचान भी दी जा सकती है।

उदाहरणात्मक शैली:

"गंगा–यमुना दोआब भू-सांस्कृतिक क्षेत्र"
या
"अरावली–मरु संक्रमण भू-सांस्कृतिक क्षेत्र"
या
"मध्य हिमालयी घाटी भू-सांस्कृतिक क्षेत्र"
इस प्रकार नाम स्वयं क्षेत्र की पहचान का पहला संकेत बनेगा।

2). भौगोलिक स्थिति

इस खंड में क्षेत्र की स्थिति स्पष्ट की जाएगी।
इसमें शामिल होंगे—
संबंधित राज्य/राज्यों का उल्लेख,
प्रमुख जिले या उपक्षेत्र,
अक्षांश-देशांतर की अनुमानित सीमा जहाँ उपयोगी हो,
प्रमुख पड़ोसी क्षेत्र,
उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम विस्तार,
प्रमुख भौगोलिक सीमाएँ।
यहाँ राजनीतिक सीमा और प्राकृतिक सीमा में अंतर भी स्पष्ट किया जाएगा।
उदाहरण के लिए किसी नदी घाटी का क्षेत्र दो या अधिक राज्यों में फैला हो सकता है।
इसलिए—
प्रशासनिक स्थिति अलग और भू-सांस्कृतिक स्थिति अलग हो सकती है।

3). भू-आकृति

यह क्षेत्र की भौतिक पहचान का मुख्य भाग होगा।
इसमें वर्णित किया जाएगा—
पर्वत,

पहाड़ियाँ,
घाटियाँ,
मैदान,
पठार,
ढाल,
नदी-घाटियाँ,
डेल्टा,
मरुस्थलीय भूभाग,
तटीय क्षेत्र,
द्वीप आदि।
भू-आकृति यह निर्धारित करती है कि—
पानी किस दिशा में जाएगा,
कहाँ बस्ती विकसित होगी,
कहाँ कृषि संभव होगी,
कहाँ सड़क निर्माण कठिन होगा,
कहाँ भूस्खलन का खतरा हो सकता है।
इसलिए भू-आकृति क्षेत्रीय जीवन की पहली भौतिक शर्त है।

4). मुख्य नदियाँ एवं जल-स्रोत

इस खंड में केवल प्रमुख नदी का नाम देना पर्याप्त नहीं होगा।
इसके अंतर्गत—
मुख्य नदी,
सहायक नदियाँ,
नाले,
झीलें,
तालाब,
कुएँ,
झरने,
जलाशय,
भूजल,
जलागम
का अध्ययन किया जाएगा।

जहाँ संभव हो, यह भी बताया जाएगा कि क्षेत्र का जल किस नदी-तंत्र या जलागम से संबंधित है।
इस खंड का उद्देश्य यह समझना है कि—
यह क्षेत्र जल प्राप्त कहाँ से करता है और जल छोड़ता कहाँ है?

5). मिट्टी

मिट्टी क्षेत्रीय कृषि और पारिस्थितिकी का आधार है।
इस खंड में बताया जाएगा—
मिट्टी का प्रकार,
बनावट,
उर्वरता,
जलधारण क्षमता,
जैविक पदार्थ,
क्षरण की स्थिति,
लवणीयता या अम्लीयता जहाँ प्रासंगिक हो।
मिट्टी को केवल कृषि उत्पादकता से नहीं जोड़ा जाएगा।
मिट्टी के स्वास्थ्य को—
जल → कृषि → जैव-विविधता → खाद्य सुरक्षा
से जोड़ा जाएगा।

6). जलवायु

प्रत्येक क्षेत्र के लिए जलवायु का स्थानीय प्रोफाइल तैयार किया जाएगा।
इसमें—
औसत वर्षा,
वर्षा का वितरण,
तापमान,
गर्मी की तीव्रता,
शीतकाल,
मानसून,
आर्द्रता,
सूखे की प्रवृत्ति,
बाढ़ की संभावना
का वर्णन होगा।

जहाँ पर्याप्त डेटा उपलब्ध हो, वहाँ दीर्घकालीन प्रवृत्तियों को भी दिखाया जाएगा।
इस खंड का उद्देश्य केवल मौसम का विवरण देना नहीं, बल्कि यह बताना है कि जलवायु क्षेत्र के जीवन को कैसे प्रभावित करती है।

7). प्रमुख कृषि

कृषि किसी भी भू-सांस्कृतिक क्षेत्र की सबसे महत्वपूर्ण आर्थिक और सांस्कृतिक गतिविधियों में से एक हो सकती है।
यहाँ बताया जाएगा—
प्रमुख खाद्यान्न,
दलहन,
तिलहन,
नकदी फसलें,
बागवानी,
मसाले,
औषधीय पौधे,
स्थानीय फसलें,
सिंचित और वर्षा-आधारित कृषि।
साथ ही यह भी देखा जाएगा कि कृषि जलवायु और मिट्टी के अनुरूप कितनी है।

8). वन एवं जैव-विविधता

इस खंड में क्षेत्र की पारिस्थितिक संपदा का वर्णन किया जाएगा।
इसमें शामिल होंगे—
प्रमुख वन प्रकार,
स्थानीय वृक्ष,
घासभूमि,
आर्द्रभूमि,
प्रमुख वन्यजीव,
पक्षी,
परागणकर्ता,
औषधीय पौधे,

स्थानीय जैव-विविधता।
यहाँ केवल प्रजातियों की सूची नहीं दी जाएगी।
यह समझाया जाएगा कि जैव-विविधता स्थानीय जीवन और अर्थव्यवस्था में क्या भूमिका निभाती है।

9). स्थानीय आजीविका

यह खंड क्षेत्र के सामाजिक-आर्थिक जीवन को समझेगा।
मुख्य गतिविधियों में शामिल हो सकते हैं—
कृषि,
पशुपालन,
मत्स्य पालन,
वानिकी,
शिल्प,
हस्तकरघा,
खनन,
पर्यटन,
व्यापार,
सेवा क्षेत्र,
स्थानीय उद्योग।
इससे स्पष्ट होगा कि लोग अपने प्राकृतिक परिवेश से किस प्रकार आर्थिक संबंध बनाते हैं।

10). भाषा एवं बोली

भाषा भू-सांस्कृतिक पहचान का अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है।
प्रत्येक क्षेत्र में—
प्रमुख भाषा,
स्थानीय बोलियाँ,
भाषाई विविधता,
पड़ोसी भाषाओं का प्रभाव,
लोकभाषा का उपयोग
दर्ज किया जाएगा।
भाषा को केवल संचार का माध्यम नहीं, बल्कि स्थानीय पर्यावरणीय ज्ञान का भंडार भी माना जाएगा।

कई स्थानीय शब्द किसी विशेष पेड़, मिट्टी, वर्षा, हवा, कृषि उपकरण या पशु के बारे में विशिष्ट ज्ञान रखते हैं।

11). लोकसंस्कृति

लोकसंस्कृति क्षेत्रीय जीवन की जीवंत अभिव्यक्ति है।
इसमें शामिल होंगे—
लोकगीत,
लोकनृत्य,
लोककथाएँ,
मेले,
पर्व,
लोकदेवता,
पारंपरिक कला,
विवाह परंपराएँ,
सामुदायिक आयोजन,
पारंपरिक वस्त्र।
यहाँ यह भी देखा जाएगा कि लोकसंस्कृति का प्रकृति से क्या संबंध है।

12). खान-पान

भोजन किसी क्षेत्र के भूगोल को समझने का सबसे प्रत्यक्ष माध्यम है।
इस खंड में देखा जाएगा—
प्रमुख अनाज,
दालें,
सब्जियाँ,
फल,
मसाले,
दूध और पशु-उत्पाद,
मछली/समुद्री भोजन जहाँ प्रासंगिक हो,
पारंपरिक व्यंजन,
मौसमी भोजन,
संरक्षण तकनीक।
भोजन और जलवायु के संबंध को भी समझाया जाएगा।

उदाहरणतः गर्म और शुष्क क्षेत्रों में ऐसे खाद्य पदार्थ विकसित हो सकते हैं जिन्हें लंबे समय तक सुरक्षित रखा जा सके।

13). लोकज्ञान

यह 86 क्षेत्रों की प्रोफाइल का विशेष और महत्वपूर्ण भाग होगा।
लोकज्ञान में—
मौसम पहचान,
बीज संरक्षण,
औषधीय पौधों का ज्ञान,
पशुपालन,
जल-संरक्षण,
मृदा प्रबंधन,
पारंपरिक निर्माण तकनीक,
जंगल का ज्ञान,
स्थानीय आपदा संकेत
शामिल हो सकते हैं।
इस ज्ञान को अंधविश्वास के रूप में नकारने के बजाय वैज्ञानिक दृष्टि से दस्तावेजीकृत और परीक्षण योग्य ज्ञान के रूप में देखा जाएगा।

14). पारंपरिक जल-प्रबंधन

यह प्रत्येक क्षेत्र के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण होगा।
क्षेत्र के अनुसार इसमें हो सकते हैं—
तालाब,
कुएँ,
बावड़ी,
जोहड़,
टांका,
आहर-पाइन,
झील,
जल-टैंक,
पहाड़ी जलधारा,
नहर,
छोटे बाँध,
वर्षाजल संचयन प्रणाली।

प्रत्येक प्रणाली के साथ उसके सामाजिक प्रबंधन का भी वर्णन किया जाएगा।
कौन इसकी सफाई करता था?
कौन पानी का उपयोग करता था?
क्या कोई सामुदायिक नियम था?
इन प्रश्नों से जल-संस्कृति का पता चलेगा।

15). प्रमुख पर्यावरणीय संकट

प्रत्येक क्षेत्र के संकट अलग होंगे।
संभावित संकटों में—
वनों की कटाई,
भूमि क्षरण,
मृदा अपरदन,
जल प्रदूषण,
भूजल दोहन,
नदी प्रदूषण,
खनन,
शहरी विस्तार,
जैव-विविधता हानि,
मरुस्थलीकरण,
तटीय क्षरण,
प्लास्टिक प्रदूषण
शामिल हो सकते हैं।
यहाँ संकट को स्थानीय प्रमाणों के आधार पर दर्ज करना आवश्यक होगा।

16). जलवायु परिवर्तन का प्रभाव

इस खंड में क्षेत्र-विशिष्ट जलवायु जोखिमों को दर्ज किया जाएगा।
उदाहरणतः—

हिमालय

हिमनद, हिमपात, भूस्खलन और पर्वतीय जल-प्रवाह।

गंगा मैदान

अत्यधिक वर्षा, बाढ़, गर्मी और कृषि जोखिम।

राजस्थान

गर्मी, सूखा और जल-अभाव।

तटीय क्षेत्र

चक्रवात, समुद्री जल का प्रभाव और तटीय क्षरण।

दक्कन

वर्षा की अनिश्चितता और कृषि जोखिम।

इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र की अपनी **Climate Risk Profile** तैयार होगी।

17). स्थानीय संरक्षण परंपराएँ

भारत की अनेक पारंपरिक व्यवस्थाओं में संरक्षण अंतर्निहित रहा है।

उदाहरण के लिए—

पवित्र उपवन,

देववन,

संरक्षित तालाब,

सामुदायिक चरागाह,

वन संरक्षण परंपराएँ,

नदी पूजा,

वृक्ष संरक्षण,

स्थानीय पशु संरक्षण

जैसी प्रणालियाँ।

यहाँ उद्देश्य परंपराओं का रोमानीकरण करना नहीं, बल्कि यह समझना है कि किन परंपराओं ने वास्तविक संरक्षण परिणाम उत्पन्न किए और उन्हें आधुनिक संदर्भ में कैसे उपयोगी बनाया जा सकता है।

18). वर्तमान चुनौतियाँ

यह खंड क्षेत्र की वर्तमान स्थिति को सामने लाएगा।

चुनौतियाँ हो सकती हैं—

युवा आबादी का पलायन,

कृषि आय में दबाव,

स्थानीय शिल्प का पतन,

जल संकट,

बेरोजगारी,

शिक्षा और स्वास्थ्य की कमी,

बाजार की समस्या,

सड़क और डिजिटल कनेक्टिविटी,
सांस्कृतिक विरासत का क्षरण।
यहाँ समस्या को केवल सरकारी जिम्मेदारी के रूप में नहीं बल्कि बहु-पक्षीय चुनौती के रूप में देखा जाएगा।

19). पुनर्जनन की संभावनाएँ

यह इस पूरे 20-बिंदु प्रारूप का सबसे सकारात्मक और भविष्य-केंद्रित खंड होगा।
"पुनर्जनन" का अर्थ केवल संसाधनों की पुनः प्राप्ति नहीं है।
यह हो सकता है—
जल पुनर्जनन + मिट्टी पुनर्जीवन + जैव-विविधता पुनर्स्थापन + स्थानीय अर्थव्यवस्था पुनर्जीवन + सांस्कृतिक पुनरोद्धार।
संभावनाओं में शामिल हो सकते हैं—
जलागम विकास,
स्थानीय बीज बैंक,
प्राकृतिक/कम-इनपुट कृषि,
वनीकरण,
घासभूमि पुनर्स्थापन,
तालाब पुनर्जीवन,
स्थानीय शिल्प,
इको-टूरिज्म,
स्थानीय उत्पादों का मूल्य संवर्धन,
डिजिटल बाजार,
युवा उद्यमिता।

20). स्थानीय समुदाय की भूमिका

भू-सांस्कृतिक मानचित्र का अंतिम और सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न है—
इस क्षेत्र के भविष्य का सबसे महत्वपूर्ण भागीदार कौन है?
उत्तर है—**स्थानीय समुदाय।**
किसी नदी का संरक्षण तभी स्थायी होगा जब नदी के किनारे रहने वाले लोग उसमें सहभागी हों।
किसी वन का संरक्षण तभी टिकाऊ होगा जब स्थानीय समाज उसके महत्व और अपने अधिकारों दोनों को समझे।

तालाब तभी जीवित रहेगा जब समुदाय उसका रखरखाव करे।
स्थानीय बीज तभी बचेंगे जब किसान उन्हें बोएँगे।
लोकभाषा तभी बचेगी जब नई पीढ़ी उसका उपयोग करेगी।
इसलिए प्रत्येक क्षेत्र के अंत में स्थानीय समुदाय की भूमिका को स्पष्ट रूप से दर्ज किया जाएगा।

16.9 प्रत्येक क्षेत्र के लिए एकीकृत प्रोफाइल

86-क्षेत्रों की अंतिम प्रोफाइल इस प्रकार होगी—

क्षेत्रीय प्रोफाइल : [क्षेत्र का नाम]

अ. प्रकृति
भौगोलिक स्थिति
भू-आकृति
नदियाँ एवं जल-स्रोत
मिट्टी
जलवायु
ब. जीवन एवं आजीविका
प्रमुख कृषि
वन एवं जैव-विविधता
स्थानीय आजीविका
खान-पान
स. संस्कृति
भाषा एवं बोली
लोकसंस्कृति
लोकज्ञान
पारंपरिक जल-प्रबंधन
द. संकट
प्रमुख पर्यावरणीय संकट
जलवायु परिवर्तन का प्रभाव
वर्तमान चुनौतियाँ
य. संरक्षण एवं भविष्य
स्थानीय संरक्षण परंपराएँ
पुनर्जनन की संभावनाएँ
स्थानीय समुदाय की भूमिका

क्षेत्र की भविष्य-दृष्टि
नोट: यह व्यवस्था 86 क्षेत्रों में समान रहेगी।

16.10 प्रत्येक क्षेत्र के साथ मानचित्र क्यों आवश्यक है?

प्रत्येक क्षेत्र के लिखित विवरण के साथ कम-से-कम एक क्षेत्रीय मानचित्र होना चाहिए।
उसमें संभव हो तो निम्नलिखित दिखाए जाएँ—
क्षेत्र की सीमा,
प्रमुख नदियाँ,
पर्वत/पठार,
प्रमुख नगर,
जल स्रोत,
कृषि क्षेत्र,
वन क्षेत्र,
महत्वपूर्ण सांस्कृतिक स्थल।
इससे पाठक लिखित विवरण को भौगोलिक स्थान से जोड़ सकेगा।

16.11 "एक क्षेत्र—एक कहानी" की पद्धति

86 क्षेत्रों को केवल डेटा की तरह प्रस्तुत करना पुस्तक को अत्यधिक तकनीकी बना सकता है।
इसलिए प्रत्येक प्रोफाइल की शुरुआत एक छोटे **"भू-सांस्कृतिक परिचय"** से की जा सकती है।
उदाहरण:
"जहाँ पर्वत से उतरती नदी मैदान की ओर आती है, वहीं इस क्षेत्र की कृषि, बस्ती और लोकजीवन का निर्माण हुआ। नदी यहाँ केवल जल नहीं, बल्कि स्थानीय स्मृति, आजीविका और संस्कृति की धुरी है।"

ऐसी 100–150 शब्दों की शुरुआत पाठक को क्षेत्र के जीवन से जोड़ देगी।
इसके बाद 20-बिंदु वैज्ञानिक प्रोफाइल दी जाएगी।

16.12 वैज्ञानिकता और स्थानीय ज्ञान का संतुलन

86 क्षेत्रों के अध्ययन में दो प्रकार के ज्ञान को साथ रखना आवश्यक है—

वैज्ञानिक ज्ञान

भू-आकृति विज्ञान
जलविज्ञान
मृदा विज्ञान
जलवायु विज्ञान
पारिस्थितिकी
कृषि विज्ञान
GIS/Remote Sensing

स्थानीय ज्ञान

किसान अनुभव
लोकभाषा
लोककथाएँ
पारंपरिक जल प्रणाली
स्थानीय बीज
वन ज्ञान
पारंपरिक औषधीय ज्ञान
स्थानीय संरक्षण व्यवस्था
इन दोनों के बीच संवाद इस परियोजना को विशिष्ट बना सकता है।

16,13 86-क्षेत्रों को "जीवित प्रयोगशाला" के रूप में देखना

प्रत्येक क्षेत्र अपने आप में एक प्राकृतिक-सामाजिक प्रयोगशाला है।
उदाहरणतः—
एक क्षेत्र हमें सूखा और जल-संरक्षण सिखा सकता है।
दूसरा बाढ़ और नदी-प्रबंधन।
तीसरा हिमालयी आपदा और पर्वतीय जीवन।
चौथा तटीय पारिस्थितिकी।
पाँचवाँ मरुस्थलीय कृषि।
छठा वन-आधारित अर्थव्यवस्था।
सातवाँ नदी-संस्कृति।
इस प्रकार 86 क्षेत्र मिलकर भारत की **विविध परिस्थितियों में मानव अनुकूलन की राष्ट्रीय प्रयोगशाला** प्रस्तुत करते हैं।

16.14 86-क्षेत्रों और "भूगोल से संस्कृति, संस्कृति से संरक्षण" का संबंध

इस पुस्तक की केंद्रीय यात्रा को प्रत्येक क्षेत्र में लागू किया जा सकता है।

पहला चरण — भूगोल
क्षेत्र की धरती, पर्वत, नदी, मिट्टी और जलवायु।
↓
दूसरा चरण — जीवन
कृषि, पशुपालन, वन और आजीविका।
↓
तीसरा चरण — संस्कृति
भाषा, भोजन, लोकज्ञान, परंपरा और आस्था।
↓
चौथा चरण — संकट
पर्यावरणीय क्षरण और जलवायु जोखिम।
↓
पाँचवाँ चरण — संरक्षण
स्थानीय संरक्षण परंपराएँ और आधुनिक विज्ञान।
↓
छठा चरण — पुनर्जनन
प्रकृति और अर्थव्यवस्था दोनों का पुनरोद्धार।

इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र की प्रोफाइल स्वयं पुस्तक के केंद्रीय दर्शन की एक छोटी इकाई बन जाएगी।

16.15 86-क्षेत्रों के लिए तुलनात्मक सूचकांक

भाग के अंत में सभी 86 क्षेत्रों की तुलना के लिए एक **भू-सांस्कृतिक सूचकांक तालिका** बनाई जा सकती है।

उदाहरणतः—

क्षेत्र	जल-संवेदनशीलता	कृषि विविधता	जैव-विविधता	सांस्कृतिक विविधता	जलवायु जोखिम	संरक्षण क्षमता
क्षेत्र 1	उच्च/मध्यम/निम्न	उच्च/मध्यम/निम्न	...	...	...	...
क्षेत्र 2	...	...	...	...	...	...

यहाँ सावधानी आवश्यक है कि ऐसे सूचकांकों को अंतिम "रैंकिंग" के रूप में न प्रस्तुत किया जाए। उनका उद्देश्य **तुलनात्मक समझ** होना चाहिए।

16.16 86-क्षेत्रों का डिजिटल भविष्य

इस परियोजना का अगला चरण एक **भारत का डिजिटल भू-सांस्कृतिक एटलस (Digital Geo-Cultural Atlas of India)** हो सकता है।
प्रत्येक क्षेत्र के लिए डिजिटल पृष्ठ पर—
मानचित्र,
नदी,
मिट्टी,
कृषि,
वन,
फोटो,
लोकगीत,
स्थानीय भोजन,
शिल्प,
जल-संरचना,
पर्यावरणीय संकट,
जलवायु जोखिम,
संरक्षण परियोजनाएँ
दर्ज की जा सकती हैं। इससे पुस्तिका / रजिस्टर एक स्थिर दस्तावेज न रहकर **जीवित ज्ञान-मानचित्र** बन सकती है।

16.17 स्थानीय समुदाय : ज्ञान के सह-लेखक

इस भाग की सबसे महत्वपूर्ण पद्धतिगत विशेषता यह होनी चाहिए कि स्थानीय समुदायों को केवल अध्ययन का विषय न बनाया जाए। उन्हें **ज्ञान के सह-निर्माता** के रूप में शामिल किया जाए।
किसान बताए कि कौन-सी फसल कब अच्छी होती है।
चरवाहा बताए कि चरागाह कैसे बदलता है।
मछुआरा बताए कि नदी या समुद्र में क्या परिवर्तन आया है।
महिला समूह बताए कि पारंपरिक जल-संरचना कैसे संचालित होती थी।
कारीगर बताए कि स्थानीय सामग्री और तकनीक कैसे विकसित हुई।
युवा डिजिटल माध्यम से इस ज्ञान को दस्तावेजीकृत कर सकते हैं।
इससे भू-सांस्कृतिक मानचित्र एक **सहभागी मानचित्र** बन जाएगा।

16.18 क्षेत्रीय अध्ययन में प्रमाण की आवश्यकता

86 क्षेत्रों का वैज्ञानिक विवरण तैयार करते समय प्रत्येक महत्वपूर्ण तथ्य के पीछे प्रमाण होना चाहिए।

प्राथमिक स्रोतों में शामिल हो सकते हैं—
सरकारी आँकड़े,
जनगणना,
भारतीय मौसम विभाग,
केंद्रीय भूजल बोर्ड,
भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण,
भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन,
राज्य सरकारों के विभाग,
कृषि विश्वविद्यालय,
वन विभाग,
स्थानीय निकाय,
वैज्ञानिक शोध-पत्र,
क्षेत्रीय सर्वेक्षण।

स्थानीय परंपराओं के लिए—
मौखिक इतिहास,
समुदाय के बुजुर्ग,
स्थानीय अभिलेख,
लोकगीत,
मंदिर/मठ/ग्राम अभिलेख,
पारंपरिक संस्थाएँ
महत्वपूर्ण स्रोत हो सकते हैं।

16.19 मौखिक इतिहास का महत्व

कई स्थानीय ज्ञान प्रणालियाँ लिखित दस्तावेजों में नहीं मिलतीं।

उदाहरण के लिए किसी पुराने तालाब की निर्माण-परंपरा, किसी जल-स्रोत का स्थानीय नाम, किसी बीज की विशेषता या किसी जंगल के संरक्षण नियम का ज्ञान समुदाय की स्मृति में हो सकता है।

ऐसे ज्ञान को मौखिक इतिहास **(Oral History)** के रूप में रिकॉर्ड किया जाना चाहिए।

लेकिन मौखिक इतिहास को तथ्य के रूप में प्रस्तुत करते समय स्रोत और दृष्टिकोण को स्पष्ट करना आवश्यक है।

16.19 86-क्षेत्र : संरक्षण की 86 प्रयोगशालाएँ

यदि प्रत्येक क्षेत्र की प्रोफाइल में संकट और समाधान दोनों दर्ज किए जाएँ तो यह भाग भविष्य के संरक्षण कार्य के लिए अत्यंत उपयोगी हो सकता है।

उदाहरणतः—

किसी क्षेत्र की समस्या

भूजल गिरावट।

स्थानीय ज्ञान

तालाब और वर्षाजल संचयन।

आधुनिक समाधान

जलागम आधारित भूजल पुनर्भरण।

सामुदायिक भूमिका

जल उपयोग समिति।

पुनर्जनन लक्ष्य

जल संतुलन पुनर्स्थापन।

इसी प्रकार—

समस्या

मृदा क्षरण।

समाधान

स्थानीय फसल विविधता + जैविक पदार्थ + जल संरक्षण।

इस तरह प्रत्येक क्षेत्र के लिए **स्थानीय पुनर्जनन रूपरेखा** (Local Regeneration Framework) के रूप में विकसित किया जा सकता है।

16.20 "एक भारत" की नई व्याख्या

86 क्षेत्रों का उद्देश्य भारत को टुकड़ों में बाँटना नहीं है।

इसके विपरीत, इसका उद्देश्य यह दिखाना है कि इतनी विविधता के बावजूद भारत के अलग-अलग हिस्सों में कुछ साझा तत्व मौजूद हैं—

जल पर निर्भरता,

मानसून से संबंध,

कृषि की भूमिका,

सामुदायिक जीवन,

प्रकृति के प्रति सांस्कृतिक दृष्टि,
स्थानीय ज्ञान,
पर्यावरणीय संकट,
संरक्षण की आवश्यकता।
इसलिए 86 क्षेत्र विविधता को दिखाते हैं, जबकि उनका संयुक्त अध्ययन **राष्ट्रीय एकता की पारिस्थितिक और सांस्कृतिक आधारभूमि** को समझने में सहायता करता है।

16.21 भाग–४ की प्रस्तावित आंतरिक संरचना

पूरे भाग को पाँच स्तरों में व्यवस्थित किया जा सकता है—

खंड-अ — हिमालयी एवं पर्वतीय भू-सांस्कृतिक क्षेत्र

पर्वत, घाटी, हिमनद, वन, झरने, बागवानी और पर्वतीय संस्कृति।

खंड-ब — महान नदी-मैदान

सिंधु, गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र तथा संबंधित मैदान और नदी-संस्कृतियाँ।

खंड-स — पठार, वन एवं मध्य भारत

दक्कन, मालवा, बुंदेलखंड, छोटानागपुर, मध्य भारतीय वन और उनसे जुड़े समुदाय।

खंड-द — मरुस्थलीय एवं पश्चिमी भारत

थार, अरावली, गुजरात और पश्चिमी भारत के शुष्क-अर्धशुष्क क्षेत्र।

खंड-य — तटीय एवं द्वीपीय भारत

पूर्वी तट, पश्चिमी तट, डेल्टा, समुद्री क्षेत्र तथा द्वीप।
इस प्रकार 86 क्षेत्र एक तार्किक भौगोलिक यात्रा के रूप में सामने आएँगे।

16.21 प्रत्येक क्षेत्र के अंत में “एक नज़र में”

प्रत्येक प्रोफाइल के अंत में एक छोटा बॉक्स दिया जा सकता है—

एक नज़र में

भौगोलिक पहचान: ...
मुख्य नदी: ...
प्रमुख फसल: ...
प्रमुख जैव-विविधता: ...
मुख्य आजीविका: ...

विशिष्ट संस्कृति: ...
मुख्य पर्यावरणीय संकट: ...
जलवायु जोखिम: ...
प्रमुख संरक्षण परंपरा: ...
पुनर्जनन का अवसर: ...
इससे पाठक लंबा विवरण पढ़े बिना भी क्षेत्र की मुख्य पहचान समझ सकेगा।

16.22 प्रत्येक क्षेत्र के लिए अंतिम संदेश

हर क्षेत्र के अंत में 3–5 पंक्तियों का **"भविष्य संदेश"** दिया जा सकता है। इसका उद्देश्य किसी क्षेत्र को रैंक करना नहीं होगा, बल्कि उसकी प्रकृति और समुदाय आधारित संरक्षण की दिशा को संक्षेप में प्रस्तुत करना होगा।

उदाहरणात्मक रूप में—
"इस क्षेत्र का भविष्य उसके जल, मिट्टी और स्थानीय जैव-विविधता के संरक्षण से जुड़ा है। पारंपरिक जल-संरचनाओं का पुनर्जीवन, स्थानीय कृषि विविधता और समुदाय-आधारित संरक्षण इस भू-सांस्कृतिक क्षेत्र की दीर्घकालीन स्थिरता को मजबूत कर सकते हैं।"

16.23 भाग–४ का केंद्रीय दर्शन

86 क्षेत्रों की यह पूरी यात्रा अंततः एक महत्वपूर्ण विचार तक पहुँचती है—
भारत की वास्तविक विविधता उसके राज्यों की संख्या में नहीं, बल्कि उसके जीवन-परिदृश्यों की विविधता में है।
एक क्षेत्र नदी से पहचाना जाता है।
दूसरा पर्वत से।
तीसरा मिट्टी से।
चौथा कृषि से।
पाँचवाँ वन से।
छठा समुद्र से।
सातवाँ लोकभाषा से।
लेकिन इन सभी के पीछे प्रकृति और मनुष्य का एक साझा संबंध मौजूद है।

16.24 निष्कर्ष: (भाग–४)

भारत के 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों का यह भाग पुस्तक का सबसे बड़ा और सबसे अधिक क्षेत्र-अध्ययन आधारित हिस्सा होगा। इसका उद्देश्य केवल 86

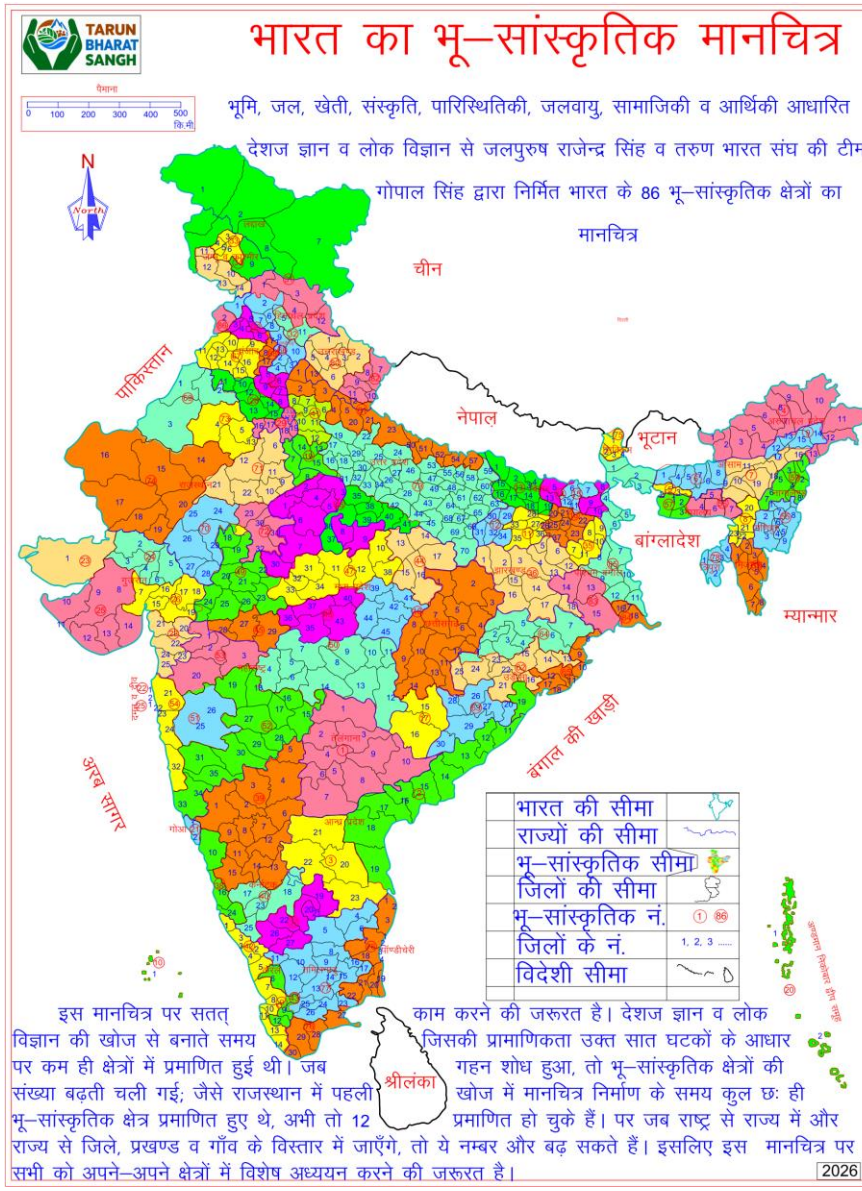
क्षेत्रों की जानकारी देना नहीं, बल्कि प्रत्येक क्षेत्र के लिए एक **समग्र ज्ञान-प्रोफ़ाइल** तैयार करना है।

प्रत्येक क्षेत्र में समान **20-प्रश्न** पूछे जाएंगे—
यह क्षेत्र कहाँ है?
इसकी भू-आकृति कैसी है?
इसका जल कहाँ से आता है?
इसकी मिट्टी कैसी है?
इसकी जलवायु कैसी है?
यहाँ क्या उगता है?
यहाँ कौन-सा जीवन और जैव-विविधता है?
लोग किससे आजीविका प्राप्त करते हैं?
वे कौन-सी भाषा बोलते हैं?
उनकी लोकसंस्कृति क्या है?
वे क्या खाते हैं?
उनके पास कौन-सा लोकज्ञान है?
उन्होंने जल को कैसे सँभाला?
आज उनका पर्यावरण किन संकटों में है?
जलवायु परिवर्तन उन्हें कैसे प्रभावित कर रहा है?
उनकी वर्तमान सामाजिक चुनौतियाँ क्या हैं?
उनकी संरक्षण परंपराएँ क्या हैं?
पुनर्जनन की संभावनाएँ क्या हैं?
समुदाय की भूमिका क्या है?
भविष्य का रास्ता क्या हो सकता है?
इन **20-प्रश्नों** का सामूहिक उत्तर ही किसी क्षेत्र की वास्तविक भू-सांस्कृतिक पहचान प्रस्तुत करेगा।

अंतिम सूत्र : 86 क्षेत्र, एक जीवन-मानचित्र

धरती से जल,
जल से खेती,
खेती से आजीविका,
आजीविका से समाज,

समाज से संस्कृति,
संस्कृति से संरक्षण,
और संरक्षण से भविष्य।



चित्र -6: भारत का भू-सांस्कृतिक मानचित्र

इसी क्रम में—

15 कृषि-जलवायवीय क्षेत्र
भारत की व्यापक प्राकृतिक-कृषि विविधता बताते हैं।

50 भौगोलिक-भौतिक इकाइयाँ
भारत की धरती की संरचना समझाती हैं।

86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र
भारत के स्थानीय जीवन, संस्कृति और संरक्षण की सूक्ष्म तस्वीर सामने लाते हैं।

इसलिए **भाग–४** इस पूरी पुस्तक का वह चरण होगा जहाँ मानचित्र केवल देखने की वस्तु नहीं रहता, बल्कि **समाज, प्रकृति और भविष्य को समझने का उपकरण** बन जाता है।

“86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र भारत के 86 अलग-अलग भारत नहीं हैं; वे एक ही भारत की 86 जीवंत अभिव्यक्तियाँ हैं।”

और इसीलिए इस भाग का अंतिम उद्देश्य होगा—

“विविध भूगोल को समझना, विविध संस्कृति का सम्मान करना और स्थानीय ज्ञान के आधार पर प्रकृति के संरक्षण तथा पुनर्जनन की राष्ट्रीय दृष्टि विकसित करना।”

भाग–५ :
भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों से संरक्षण की ओर

भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों से संरक्षण की ओर

भाग–५ इस पुस्तक की उस केंद्रीय यात्रा को आगे बढ़ाता है जिसमें **भूगोल से संस्कृति और संस्कृति से संरक्षण** की अवधारणा को व्यवहारिक धरातल पर समझने का प्रयास किया गया है। यदि भारत को केवल प्रशासनिक सीमाओं, जिलों और राज्यों के माध्यम से देखा जाए तो उसके प्राकृतिक और सांस्कृतिक ताने-बाने का एक बड़ा हिस्सा हमारी दृष्टि से ओझल रह जाता है। इसके विपरीत, जब किसी क्षेत्र को उसकी भूमि, जल, जलवायु, कृषि, वनस्पति, पशुधन, आजीविका, लोकभाषा, परंपराओं और सामुदायिक ज्ञान के साथ एक समग्र इकाई के रूप में देखा जाता है, तब संरक्षण केवल किसी वन, नदी या तालाब को बचाने की गतिविधि नहीं रह जाता, बल्कि वह **जीवन-प्रणाली के संरक्षण** का व्यापक अभियान बन जाता है।

भारत के विभिन्न भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों में प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व की अनेक ऐसी परंपराएँ विकसित हुई हैं जिनमें जल-संरक्षण, मृदा-संरक्षण, जैव-विविधता, स्थानीय कृषि, पशुपालन, वन-प्रबंधन और सामुदायिक सहयोग एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। आधुनिक विकास के दबाव, जनसंख्या वृद्धि, बदलती जीवन-शैली, भू-उपयोग परिवर्तन और जलवायु परिवर्तन ने इन प्रणालियों को कमजोर किया है। इसलिए आज आवश्यकता केवल नई तकनीकों की नहीं, बल्कि **स्थानीय ज्ञान और आधुनिक विज्ञान के बीच संवाद** स्थापित करने की है। यही संवाद भविष्य के टिकाऊ भारत का आधार बन सकता है।

अध्याय-17
जल ही भू-संस्कृति की धुरी

भारत की सभ्यता को समझने के लिए यदि किसी एक तत्व को सबसे अधिक महत्त्व देना हो तो वह जल है। जल केवल जीवन का आधार नहीं है; उसने भारत में बस्तियों के स्थान, कृषि के स्वरूप, व्यापार के मार्ग, नगरों के विकास, धार्मिक परंपराओं, लोकगीतों, त्योहारों और सामाजिक संबंधों को भी प्रभावित किया है। जहाँ जल उपलब्ध हुआ, वहाँ मानव ने निवास किया; जहाँ जल को नियंत्रित करने की क्षमता विकसित हुई, वहाँ स्थायी कृषि और संगठित समाज विकसित हुए; और जहाँ जल का अभाव रहा, वहाँ समाज ने जल के संरक्षण और सामुदायिक वितरण की विशिष्ट प्रणालियाँ विकसित कीं। इस प्रकार जल को केवल प्राकृतिक संसाधन मानना पर्याप्त नहीं है। वह **भूगोल और संस्कृति के बीच सबसे महत्वपूर्ण सेतु** है।

भारत की अनेक प्राचीन बस्तियाँ नदियों, झीलों, जलाशयों और भूजल स्रोतों के आसपास विकसित हुईं। सिंधु और उसकी सहायक नदियों से लेकर गंगा, यमुना, सरस्वती की सांस्कृतिक स्मृति, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, महानदी और ब्रह्मपुत्र तक भारतीय सभ्यता के विकास में नदियों की केंद्रीय भूमिका रही है। नदी के किनारे बसे नगर केवल व्यापारिक या कृषि केंद्र नहीं थे; वे ज्ञान, धर्म, कला, संगीत, शिल्प और सामाजिक आदान-प्रदान के केंद्र भी बने। नदी घाटों का निर्माण, तीर्थ परंपरा, स्नान, पर्व, मेले और नदी-आधारित लोककथाएँ इस बात के प्रमाण हैं कि भारतीय समाज ने नदी को केवल पानी की धारा के रूप में नहीं देखा।

भू-सांस्कृतिक दृष्टि से जल का महत्त्व इसलिए भी बढ़ जाता है क्योंकि किसी क्षेत्र की जल-व्यवस्था उसके संपूर्ण सामाजिक जीवन को प्रभावित करती है। राजस्थान जैसे शुष्क क्षेत्रों में कम वर्षा ने जल संचयन को संस्कृति का हिस्सा बनाया। यहाँ जोहड़, कुंड, टांका और बावड़ी जैसी प्रणालियाँ केवल इंजीनियरिंग संरचनाएँ नहीं थीं, बल्कि सामुदायिक जीवन की संस्थाएँ थीं। इसी प्रकार उत्तर बिहार और पूर्वी भारत के बाढ़-प्रभावित क्षेत्रों में जल को रोकने, मोड़ने और नियंत्रित करने के लिए स्थानीय प्रणालियाँ विकसित हुईं।

दक्षिण भारत में मंदिर-तालाबों और जलाशयों ने धार्मिक गतिविधियों के साथ-साथ भूजल पुनर्भरण में भूमिका निभाई। हिमालयी क्षेत्रों में प्राकृतिक ढाल, झरनों और छोटी धाराओं के अनुरूप जल-वितरण की स्थानीय व्यवस्थाएँ विकसित हुईं।

जल और बस्ती का संबंध भी अत्यंत गहरा है। किसी गाँव की स्थिति, खेतों का विस्तार, घरों की दिशा, पशुओं के लिए स्थान, बाजार का विकास और यहाँ तक कि स्थानीय रास्तों का स्वरूप भी जल की उपलब्धता से जुड़ा रहा है। पारंपरिक समाज में जल स्रोत के आसपास सामुदायिक जीवन की एक विशेष संरचना विकसित होती थी। कुआँ केवल पानी लेने का स्थान नहीं था; वह सामाजिक संपर्क का केंद्र भी हो सकता था। तालाब केवल सिंचाई का स्रोत नहीं था; वह पशुओं, पक्षियों, वनस्पतियों और स्थानीय जैव-विविधता के लिए भी आश्रय बनता था।

इस दृष्टि से प्रत्येक भू-सांस्कृतिक क्षेत्र की पहचान करते समय यह पूछना आवश्यक है कि वहाँ जल कहाँ से आता है, किस दिशा में बहता है, किस प्रकार संचित होता है, किसके द्वारा उपयोग किया जाता है और उसका सामाजिक वितरण किस प्रकार होता है। यही प्रश्न उस क्षेत्र की वास्तविक सांस्कृतिक संरचना को समझने में सहायता करते हैं।

आधुनिक युग में जल की समस्या का एक बड़ा कारण यह है कि जल को स्थानीय पारिस्थितिक तंत्र से अलग करके केवल आपूर्ति की वस्तु मान लिया गया है। पाइपलाइन, ट्यूबवेल, बड़े बाँध और दूरस्थ जल-आपूर्ति प्रणालियाँ उपयोगी हो सकती हैं, लेकिन यदि स्थानीय जलागम, तालाब, नालियाँ, कुएँ और भूजल पुनर्भरण क्षेत्र नष्ट होते जाएँ तो दीर्घकाल में जल-सुरक्षा कमजोर हो सकती है। इसलिए भविष्य की जल-नीति में बड़े और छोटे दोनों स्तरों को एक साथ देखना होगा।

भू-सांस्कृतिक दृष्टिकोण हमें यह सिखाता है कि **जल-संरक्षण का अर्थ केवल पानी बचाना नहीं, बल्कि जल से जुड़े पूरे सामाजिक-पारिस्थितिक तंत्र को पुनर्जीवित करना है।** यदि किसी क्षेत्र का तालाब पुनर्जीवित होता है, तो उसके साथ भूजल, कृषि, पशुपालन, जैव-विविधता और स्थानीय अर्थव्यवस्था भी पुनर्जीवित हो सकती है। इसी कारण जल को भू-संस्कृति की धुरी कहा जा सकता है।

अध्याय-18
पारंपरिक जल-ज्ञान

भारत का पारंपरिक जल-ज्ञान अत्यंत विविध, समृद्ध और क्षेत्र-विशिष्ट रहा है। देश की अलग-अलग भौगोलिक परिस्थितियों में रहने वाले समुदायों ने वर्षा, मिट्टी की प्रकृति, भूमि की ढाल, प्राकृतिक जलधाराओं और भूजल की उपलब्धता को समझकर ऐसी जल-संरक्षण प्रणालियाँ विकसित कीं, जो स्थानीय पर्यावरण और आवश्यकताओं के अनुरूप थीं। इनमें से अनेक प्रणालियाँ देखने में अत्यंत सरल प्रतीत होती हैं, लेकिन उनके पीछे सदियों का अनुभव, प्राकृतिक परिवेश की गहरी समझ और सामुदायिक प्रबंधन की सुदृढ़ परंपरा निहित थी। ये प्रणालियाँ स्थानीय संसाधनों के विवेकपूर्ण उपयोग और जल के प्रति समाज की जिम्मेदारी को भी दर्शाती हैं।

राजस्थान के **जोहड़** इसका उल्लेखनीय उदाहरण हैं। वर्षा जल को छोटे जलागम क्षेत्रों से एकत्र करके रोकने वाली इन पारंपरिक संरचनाओं ने शुष्क और अर्ध-शुष्क क्षेत्रों में जल की उपलब्धता बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। जोहड़ का प्रभाव केवल उसमें संचित पानी तक सीमित नहीं रहता, बल्कि वह आसपास के भूजल पुनर्भरण में भी सहायता कर सकता है तथा स्थानीय वनस्पतियों, कृषि और पशुधन के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ विकसित करता है। जब कोई समुदाय सामूहिक रूप से ऐसे जल-स्रोत का निर्माण, संरक्षण और रखरखाव करता है, तब यह जल-संरचना केवल प्राकृतिक संसाधन नहीं रहती, बल्कि सामाजिक सहयोग, सामुदायिक जिम्मेदारी और स्थानीय आत्मनिर्भरता की संस्था भी बन जाती है।

तालाब भारतीय ग्रामीण जीवन का एक व्यापक, बहुआयामी और महत्वपूर्ण जल-स्रोत रहे हैं। किसी गाँव का तालाब सिंचाई, पशुपालन, घरेलू उपयोग, धार्मिक गतिविधियों और भूजल पुनर्भरण जैसे अनेक कार्यों से जुड़ा हो सकता है। कई क्षेत्रों में तालाबों की श्रृंखला विकसित की जाती थी, जिससे वर्षा जल एक संरचना से दूसरी संरचना तक नियंत्रित रूप से पहुँच सके और उसका अधिकतम उपयोग किया जा सके। तालाबों के किनारे लगाए गए वृक्ष, घास और अन्य वनस्पतियाँ भी स्थानीय पारिस्थितिकी, जैव-विविधता

तथा प्राकृतिक जल-संतुलन का महत्वपूर्ण हिस्सा बनती थीं। इस प्रकार तालाब केवल जल-संग्रहण के साधन नहीं, बल्कि ग्रामीण जीवन और पर्यावरण के बीच स्थापित एक महत्वपूर्ण कड़ी थे।

बावड़ियाँ और सीढ़ीदार कुएँ जल-संग्रहण तथा भूजल तक पहुँचने की विशिष्ट वास्तुशिल्पीय और तकनीकी प्रणालियाँ थीं। पश्चिमी भारत में इनका विशेष विकास हुआ। अनेक बावड़ियाँ केवल जल-स्रोत के रूप में उपयोगी नहीं थीं, बल्कि स्थापत्य कला, शिल्पकला, धार्मिक गतिविधियों और सामाजिक जीवन के महत्वपूर्ण केंद्र भी बन गईं। इनका निर्माण इस बात का प्रमाण है कि भारतीय समाज ने जल-प्रबंधन को केवल तकनीकी आवश्यकता नहीं माना, बल्कि उसे सौंदर्य, उपयोगिता, सामुदायिक जीवन और सांस्कृतिक विरासत के साथ भी जोड़ा। इस प्रकार बावड़ियाँ पारंपरिक जल-बुद्धिमत्ता और स्थापत्य कौशल का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

कुएँ भारतीय ग्रामीण समाज की सबसे व्यापक और प्रचलित जल-संरचनाओं में शामिल रहे हैं। कुएँ की स्थिति, गहराई, जलस्तर तथा आसपास की भूमि की प्रकृति के आधार पर स्थानीय समुदायों ने भूजल के व्यवहार और उसकी उपलब्धता का व्यावहारिक ज्ञान विकसित किया। कुओं के जल का उपयोग पेयजल, सिंचाई और पशुपालन जैसी विभिन्न आवश्यकताओं के लिए किया जाता था। कई क्षेत्रों में कुओं के उपयोग, जल-वितरण और रखरखाव से संबंधित सामाजिक नियम एवं सामुदायिक व्यवस्थाएँ भी विकसित हुईं। इससे स्पष्ट होता है कि जल-संसाधनों का प्रबंधन केवल व्यक्तिगत आवश्यकता नहीं, बल्कि सामूहिक जिम्मेदारी के रूप में भी देखा जाता था।

पूर्वी भारत में **आहर-पाइन प्रणाली** वर्षा और प्राकृतिक जल-प्रवाह को स्थानीय कृषि से जोड़ने वाली एक महत्वपूर्ण पारंपरिक व्यवस्था रही है। इसमें आहर जल-संग्रहण की संरचना के रूप में कार्य करता है, जबकि पाइन जल के प्रवाह और वितरण के लिए नहरनुमा मार्ग उपलब्ध कराता है। ऐसी प्रणालियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि पारंपरिक जल-ज्ञान केवल पानी एकत्र करने तक सीमित नहीं था, **बल्कि जल को उसके प्राकृतिक प्रवाह के साथ समझने, नियंत्रित करने और कृषि की आवश्यकताओं के अनुरूप व्यवस्थित करने पर** आधारित था। इससे स्थानीय कृषि उत्पादन और जल उपलब्धता के बीच संतुलन बनाए रखने में सहायता मिलती थी।

दक्षिण भारत के अनेक क्षेत्रों में जलाशयों और टैंक प्रणालियों का व्यापक जाल विकसित हुआ। इनमें एक जलाशय से अतिरिक्त पानी दूसरे जलाशय तक पहुँचता था, जिससे वर्षा जल का अधिकतम उपयोग और जल-संसाधनों का बेहतर प्रबंधन संभव होता था। कुछ स्थानों पर मंदिर-तालाब धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन के साथ-साथ जल-संरक्षण और भूजल पुनर्भरण से भी जुड़े रहे। इसी प्रकार हिमालयी क्षेत्रों में झरनों, प्राकृतिक धाराओं और स्थानीय जलस्रोतों के संरक्षण एवं वितरण के लिए सामुदायिक व्यवस्थाएँ विकसित हुईं। उत्तर-पूर्व भारत में अधिक वर्षा, पहाड़ी भूभाग और स्थानीय पारिस्थितिक परिस्थितियों के अनुसार विशिष्ट जल-संरक्षण प्रणालियाँ देखने को मिलती हैं। ये उदाहरण भारत की भौगोलिक विविधता के अनुरूप विकसित पारंपरिक जल-ज्ञान की व्यापकता को दर्शाते हैं।

इन सभी प्रणालियों की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि उनका निर्माण स्थानीय भौगोलिक परिस्थितियों, वर्षा की मात्रा, मिट्टी की प्रकृति, भूमि की ढाल और समुदाय की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया जाता था। इसके विपरीत, आधुनिक जल-प्रबंधन में कभी-कभी एक ही मॉडल को बड़े भूभाग पर लागू करने की प्रवृत्ति स्थानीय परिस्थितियों और प्राकृतिक विविधता की उपेक्षा कर सकती है। पारंपरिक जल-ज्ञान हमें इसके विपरीत **स्थान-विशिष्ट समाधान** (Location-Specific Solutions) अपनाने का महत्वपूर्ण सिद्धांत प्रदान करता है। यही दृष्टिकोण जल-संरक्षण को अधिक प्रभावी, व्यावहारिक और टिकाऊ बना सकता है।

हालाँकि, पारंपरिक ज्ञान को केवल अतीत की स्मृति या सांस्कृतिक विरासत के रूप में संरक्षित करना पर्याप्त नहीं होगा। आवश्यकता इस बात की है कि इन प्रणालियों का आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मूल्यांकन और पुनर्विकास किया जाए। यह समझना आवश्यक है कि किस प्रकार की संरचना कितनी वर्षा में अधिक प्रभावी होती है, उसका भूजल पुनर्भरण पर क्या प्रभाव पड़ता है, उसमें गाद जमने की गति कितनी है और उसके नियमित रखरखाव के लिए कौन-सी व्यवस्थाएँ आवश्यक हैं। आधुनिक भू-स्थानिक तकनीक (GIS), जल-विज्ञान, रिमोट सेंसिंग और हाइड्रोलॉजिकल मॉडलिंग इन प्रश्नों के वैज्ञानिक उत्तर खोजने में महत्वपूर्ण सहायता प्रदान कर सकते हैं।

इस प्रकार पारंपरिक जल-ज्ञान और आधुनिक विज्ञान के बीच संबंध **अतीत बनाम आधुनिकता** का प्रश्न नहीं है, बल्कि दो प्रकार के ज्ञान को एक-दूसरे

का पूरक बनाने का प्रयास है। पारंपरिक अनुभव हमें स्थानीय परिस्थितियों और सामुदायिक आवश्यकताओं की समझ देता है, जबकि आधुनिक विज्ञान उनके परीक्षण, सुधार और व्यापक उपयोग की संभावनाएँ प्रदान करता है।

वास्तव में, भारत की जल-सुरक्षा का भविष्य पारंपरिक जल-बुद्धिमत्ता, आधुनिक वैज्ञानिक तकनीक और सामुदायिक सहभागिता के संतुलित समन्वय में निहित है।

अध्याय-19
नदी और सभ्यता

भारतीय सभ्यता के विकास में नदियों की भूमिका इतनी व्यापक रही है कि नदी को केवल जलधारा मानना उसके वास्तविक सामाजिक और पारिस्थितिक महत्त्व को सीमित कर देना होगा। नदी एक गतिशील **सामाजिक-पारिस्थितिक तंत्र** है, जिसमें जल के साथ मिट्टी, अवसाद, मछलियाँ, वनस्पति, आर्द्रभूमियाँ,
बाढ़-मैदान, भूजल और मानव समुदाय परस्पर जुड़े रहते हैं।

नदी का प्राकृतिक प्रवाह उसके स्वास्थ्य का मूल आधार है। नदी केवल अपने मुख्य प्रवाह-पथ में नहीं रहती; वर्षा के समय उसका जल बाढ़-मैदानों, आर्द्रभूमियों और सहायक धाराओं से जुड़ता है। यही क्षेत्र अनेक जीवों के लिए आवास प्रदान करते हैं और भूजल पुनर्भरण में भी योगदान दे सकते हैं। इसलिए नदी के संरक्षण का अर्थ केवल नदी के मुख्य चैनल की सफाई करना नहीं है। नदी के पूरे जलागम और बाढ़-मैदान को समझना आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति में नदियों के प्रति श्रद्धा ने उन्हें सामाजिक जीवन में विशिष्ट स्थान दिया। गंगा, यमुना, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, सरयू, ब्रह्मपुत्र और अन्य नदियाँ धार्मिक परंपराओं, तीर्थों, मेलों, लोकगीतों और साहित्य का हिस्सा बनीं। नदी-घाटों ने नगरों को पहचान दी और नदी किनारे होने वाले धार्मिक एवं सांस्कृतिक आयोजन सामाजिक संपर्क के माध्यम बने। परंतु आधुनिक काल में नदी और समाज के बीच संबंध में अनेक परिवर्तन हुए हैं। शहरीकरण, औद्योगिक गतिविधियाँ, कृषि-अपवाह, सीवेज, रेत खनन, नदी-तटों का अतिक्रमण, बाढ़-मैदानों में निर्माण तथा प्रवाह में मानवीय परिवर्तन नदी की पारिस्थितिकी को प्रभावित कर सकते हैं। इसका परिणाम केवल जल-गुणवत्ता में गिरावट नहीं होता; मछलियों, आर्द्रभूमियों, कृषि और नदी पर निर्भर समुदायों पर भी प्रभाव पड़ता है।

भू-सांस्कृतिक दृष्टि से प्रत्येक नदी को उसके **उद्गम से मुहाने तक एक सतत सांस्कृतिक-पर्यावरणीय गलियारे** के रूप में देखने की आवश्यकता है। किसी नदी के ऊपरी जलागम में होने वाला परिवर्तन नीचे के मैदानों को प्रभावित कर सकता है। इसी प्रकार मैदानी क्षेत्रों में भूमि उपयोग परिवर्तन नदी के प्रवाह और अवसाद परिवहन को प्रभावित कर सकता है।

इसलिए नदी संरक्षण में केवल नदी की सफाई नहीं, बल्कि **नदी-जलागम संरक्षण, बाढ़-मैदान संरक्षण, आर्द्रभूमि संरक्षण, भूजल पुनर्भरण, अपशिष्ट प्रबंधन और स्थानीय समुदाय की भागीदारी** को एक साथ देखना आवश्यक है।

नदी के प्रति भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि का पुनर्पाठ भी इस दिशा में उपयोगी हो सकता है। यदि नदी को केवल आर्थिक संसाधन के बजाय जीवित सामाजिक-पारिस्थितिक प्रणाली के रूप में देखा जाए तो नदी के साथ मानव संबंध अधिक संतुलित बन सकता है। इस दृष्टि से नदी-संरक्षण वास्तव में सभ्यता-संरक्षण भी है।

अध्याय-20
कृषि और जलवायु परिवर्तन

कृषि किसी भी भू-सांस्कृतिक क्षेत्र की पहचान का सबसे महत्वपूर्ण आधार है। भारत की कृषि केवल खाद्य उत्पादन की गतिविधि नहीं रही; उसने गाँवों की संरचना, त्योहारों, लोकगीतों, भोजन, पशुपालन, श्रम-विभाजन और स्थानीय अर्थव्यवस्था को आकार दिया है। इसलिए कृषि में होने वाला परिवर्तन सीधे संस्कृति में परिवर्तन का कारण बन सकता है।

जलवायु परिवर्तन के कारण तापमान, वर्षा की अनिश्चितता, चरम मौसम की घटनाएँ, सूखा, बाढ़, गर्मी की लहरें और कुछ क्षेत्रों में जल उपलब्धता की समस्या कृषि के लिए नई चुनौतियाँ उत्पन्न कर रही हैं। इन चुनौतियों का प्रभाव सभी क्षेत्रों में समान नहीं होता। किसी क्षेत्र में अत्यधिक वर्षा समस्या बन सकती है, जबकि दूसरे क्षेत्र में वर्षा की कमी। इसी कारण कृषि-अनुकूलन के लिए **भू-सांस्कृतिक क्षेत्र-विशिष्ट रणनीति** आवश्यक है।

स्थानीय कृषि प्रणालियों में अनेक ऐसे तत्व रहे हैं जो बदलते पर्यावरण के प्रति अनुकूलन की क्षमता रखते हैं। सूखा-प्रवण क्षेत्रों में कम पानी वाली फसलें, मिश्रित खेती, बहुफसली प्रणाली, स्थानीय बीज, पशुपालन और कृषि-वनीकरण जैसी व्यवस्थाएँ जोखिम को कम कर सकती हैं। पहाड़ी क्षेत्रों में सीढ़ीदार खेती मिट्टी और जल संरक्षण से जुड़ी रही है। बाढ़-प्रभावित क्षेत्रों में स्थानीय समुदायों ने ऐसी फसल प्रणालियाँ विकसित कीं जो मौसमी जलभराव की परिस्थितियों के अनुरूप थीं।

स्थानीय बीजों का महत्त्व भी यहाँ विशेष रूप से सामने आता है। पारंपरिक बीजों का चयन कई बार स्थानीय मिट्टी, वर्षा, तापमान और कीट-रोग परिस्थितियों के लंबे अनुभव पर आधारित रहा है। आधुनिक कृषि विज्ञान द्वारा इन स्थानीय किस्मों का वैज्ञानिक मूल्यांकन करके उनके उपयोग और संरक्षण की नई संभावनाएँ विकसित की जा सकती हैं।

कृषि और जलवायु परिवर्तन के संदर्भ में **मृदा स्वास्थ्य** को भी केंद्र में रखना होगा। स्वस्थ मिट्टी जल धारण करने, पोषक तत्व उपलब्ध कराने और कृषि की लचीलापन क्षमता बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। जैविक पदार्थ, फसल अवशेषों का प्रबंधन, फसल विविधता, उचित सिंचाई और मृदा संरक्षण जैसे उपाय स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार उपयोगी हो सकते हैं।

भू-सांस्कृतिक दृष्टि से कृषि को केवल खेत की सीमा तक देखना उचित नहीं होगा। खेत, तालाब, चरागाह, वन, पशुधन, स्थानीय बाजार और श्रम व्यवस्था मिलकर एक **ग्रामीण सामाजिक-पारिस्थितिक तंत्र** बनाते हैं। यदि इस पूरे तंत्र को समझे बिना केवल उत्पादन बढ़ाने पर जोर दिया जाएगा तो दीर्घकाल में जल, मिट्टी और जैव-विविधता पर दबाव बढ़ सकता है।

इसलिए भविष्य की कृषि नीति में स्थानीय ज्ञान, आधुनिक कृषि-विज्ञान, मौसम सूचना, जल प्रबंधन, बीज विविधता और किसान समुदाय के अनुभव को एकीकृत करना आवश्यक है। जलवायु परिवर्तन के दौर में कृषि का लक्ष्य केवल अधिक उत्पादन नहीं, बल्कि **उत्पादन के साथ लचीलापन, पोषण, मृदा स्वास्थ्य और पारिस्थितिक संतुलन** होना चाहिए।

अध्याय-21
लोकज्ञान और आधुनिक विज्ञान

किसी भी भू-सांस्कृतिक क्षेत्र की सबसे मूल्यवान संपत्तियों में से एक उसका लोकज्ञान है। यह ज्ञान पुस्तकों में हमेशा दर्ज नहीं होता। यह किसान के मौसम पहचानने के अनुभव, चरवाहे के पशु-व्यवहार संबंधी ज्ञान, वनवासी के पौधों की पहचान, कारीगर की सामग्री संबंधी समझ, मछुआरे की नदी की प्रवृत्तियों की जानकारी और ग्रामीण समुदाय की जल-संरचना के रखरखाव की परंपरा में जीवित रहता है।

लोकज्ञान का निर्माण एक दिन में नहीं होता। यह पीढ़ियों के अनुभव, प्रयोग, अवलोकन और सामाजिक स्मृति से विकसित होता है। किसी क्षेत्र में कौन-सी फसल कब बोई जाए, किस दिशा में वर्षा आने की संभावना होती है, कौन-सा पौधा औषधीय उपयोग में आता है, किस स्थान पर पानी अधिक समय तक टिकता है या किस मिट्टी में कौन-सी फसल बेहतर होती है—ऐसी अनेक जानकारियाँ स्थानीय समुदायों के अनुभव में मौजूद रही हैं।

लेकिन लोकज्ञान को वैज्ञानिक रूप से स्वीकार करने का अर्थ यह नहीं है कि उसकी प्रत्येक धारणा को बिना परीक्षण के सही मान लिया जाए। इसी प्रकार आधुनिक विज्ञान को भी स्थानीय अनुभव की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। सही दृष्टिकोण दोनों के बीच **संवाद, परीक्षण और सह-अध्ययन** का है।

उदाहरण के लिए यदि किसी गाँव के लोग लंबे अनुभव के आधार पर किसी विशेष स्थान को भूजल पुनर्भरण के लिए उपयुक्त मानते हैं, तो आधुनिक भू-वैज्ञानिक अध्ययन, उपग्रह चित्र, भू-आकृतिक विश्लेषण और जल-विज्ञान संबंधी आंकड़े उस अनुभव का परीक्षण और विस्तार कर सकते हैं। यदि स्थानीय किसान किसी पारंपरिक बीज को सूखे में अधिक सहनशील मानते हैं, तो कृषि वैज्ञानिक उसके आनुवंशिक, जैव-भौतिक और उत्पादकता संबंधी गुणों का अध्ययन कर सकते हैं।

इस प्रक्रिया में समुदाय केवल "सूचना देने वाला" नहीं होना चाहिए। उसे **ज्ञान-निर्माण का सहभागी** बनाया जाना चाहिए। स्थानीय लोगों की सहमति, अनुभव और बौद्धिक योगदान को सम्मान देना भी आवश्यक है। विशेष रूप से आदिवासी और स्थानीय समुदायों के पारंपरिक ज्ञान के संदर्भ में ज्ञान के दस्तावेजीकरण, उपयोग और लाभ-साझेदारी के नैतिक प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं।

आधुनिक तकनीक इस ज्ञान के संरक्षण में नई संभावनाएँ खोल सकती है। किसी क्षेत्र की पारंपरिक जल-संरचनाओं का डिजिटल मानचित्र तैयार किया जा सकता है। स्थानीय पौधों और बीजों का डेटाबेस बनाया जा सकता है। बुजुर्गों से मौखिक इतिहास रिकॉर्ड किए जा सकते हैं। लोकगीतों, कृषि कैलेंडर, पारंपरिक मौसम संकेतों और जल प्रबंधन प्रणालियों को डिजिटल अभिलेखों में संरक्षित किया जा सकता है।

इस प्रकार भू-सांस्कृतिक मानचित्र केवल भौगोलिक सीमाओं का नक्शा नहीं रहेगा। वह **प्रकृति और मानव के साझा ज्ञान का जीवित अभिलेख** बन सकता है।

भविष्य में विद्यालयों, विश्वविद्यालयों, शोध संस्थानों और स्थानीय समुदायों के बीच सहयोग इस दिशा में महत्त्वपूर्ण हो सकता है। विद्यार्थी स्थानीय तालाबों का इतिहास दर्ज कर सकते हैं, शोधकर्ता जलग्रहण क्षेत्र का वैज्ञानिक अध्ययन कर सकते हैं और समुदाय अपने अनुभव साझा कर सकता है। इस प्रकार ज्ञान ऊपर से नीचे आने वाली प्रक्रिया न होकर **सहभागी ज्ञान-निर्माण की प्रक्रिया** बन सकता है।

अध्याय-22
संरक्षण में समुदाय की भूमिका

संरक्षण की सफलता का अंतिम प्रश्न यह है कि संरक्षण करेगा कौन? यदि किसी क्षेत्र के संरक्षण की पूरी जिम्मेदारी केवल सरकारी संस्थाओं पर छोड़ दी जाए तो विशाल और विविध भारत में उसके प्रभाव की सीमाएँ हो सकती हैं। सरकार की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है—नीति निर्माण, कानून, वित्त, तकनीकी सहायता, संस्थागत ढाँचा और निगरानी के लिए सरकार आवश्यक है। लेकिन किसी क्षेत्र की भूमि, जल, वन और जैव-विविधता के साथ प्रतिदिन रहने वाले स्थानीय समुदाय की भागीदारी के बिना संरक्षण का सामाजिक आधार कमजोर रह सकता है।

इसीलिए भविष्य की दिशा **सरकार-केंद्रित संरक्षण से समुदाय-सहभागी संरक्षण** की ओर होनी चाहिए। इसका अर्थ सरकार की भूमिका समाप्त करना नहीं है, बल्कि सरकार, वैज्ञानिक संस्थानों और स्थानीय समुदायों के बीच जिम्मेदारियों का बेहतर विभाजन करना है।

किसी गाँव का तालाब तभी लंबे समय तक जीवित रह सकता है जब उसकी देखभाल करने वाली स्थानीय व्यवस्था भी जीवित हो। किसी वन क्षेत्र की जैव-विविधता तभी प्रभावी रूप से संरक्षित हो सकती है जब स्थानीय आजीविका और संरक्षण के बीच संतुलन स्थापित हो। किसी नदी के पुनर्जीवन का प्रयास तभी स्थायी हो सकता है जब नदी के किनारे रहने वाले समुदाय उसके प्रदूषण, अपशिष्ट और जल उपयोग के प्रश्नों में सहभागी बनें।

समुदाय-केंद्रित संरक्षण में स्थानीय संस्थाओं की भूमिका महत्वपूर्ण है। ग्राम पंचायत, जल उपयोगकर्ता समूह, किसान समूह, महिला समूह, स्वयं सहायता समूह, युवा संगठन और स्थानीय नागरिक संस्थाएँ संरक्षण गतिविधियों को स्थानीय स्तर पर आगे बढ़ा सकती हैं। महिलाओं की भूमिका विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अनेक ग्रामीण क्षेत्रों में जल, ईंधन, खाद्य संसाधन और घरेलू संसाधनों के प्रबंधन से उनका प्रत्यक्ष संबंध रहा है।

इसी प्रकार युवाओं को भू-सांस्कृतिक संरक्षण से जोड़ना आवश्यक है। डिजिटल मैपिंग, ड्रोन सर्वेक्षण, मोबाइल आधारित डेटा संग्रह, जल गुणवत्ता परीक्षण और जैव-विविधता अभिलेखन जैसे कार्यों में युवा नई तकनीक और स्थानीय अनुभव के बीच सेतु बन सकते हैं।

समुदाय-केंद्रित संरक्षण का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत **स्थानीय लाभ और स्थानीय जिम्मेदारी** है। यदि संरक्षण से समुदाय को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष लाभ मिलता है—जैसे जल सुरक्षा, कृषि उत्पादकता, रोजगार, पर्यटन, जैविक संसाधन, मछली पालन या स्थानीय उत्पादों का बाजार—तो संरक्षण के प्रति दीर्घकालिक भागीदारी मजबूत हो सकती है। लेकिन संरक्षण को केवल आर्थिक लाभ तक सीमित करना भी उचित नहीं होगा। सांस्कृतिक पहचान, सामाजिक प्रतिष्ठा और आने वाली पीढ़ियों के प्रति जिम्मेदारी भी संरक्षण के शक्तिशाली आधार हैं।

भू-सांस्कृतिक क्षेत्र इस समुदाय-केंद्रित संरक्षण के लिए प्राकृतिक इकाई प्रदान करते हैं। किसी प्रशासनिक जिले की सीमा के बजाय यदि किसी जलागम, नदी घाटी, पर्वतीय क्षेत्र, कृषि-पारिस्थितिक क्षेत्र या सांस्कृतिक क्षेत्र को संरक्षण की योजना का आधार बनाया जाए तो प्रकृति और समाज के वास्तविक संबंध अधिक स्पष्ट दिखाई दे सकते हैं।

इसी दृष्टि से **"86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र"** केवल मानचित्र पर बनाए गए क्षेत्र नहीं हैं। वे संभावित संरक्षण-इकाइयों के रूप में भी देखे जा सकते हैं। प्रत्येक क्षेत्र में स्थानीय जल-स्रोतों का पुनर्जीवन, पारंपरिक कृषि का संरक्षण, स्थानीय बीजों का दस्तावेजीकरण, जैव-विविधता का संरक्षण, लोकज्ञान का अभिलेखन और स्थानीय समुदायों की भागीदारी के आधार पर अलग-अलग संरक्षण रणनीति विकसित की जा सकती है।

इस मॉडल में वैज्ञानिक संस्थान ज्ञान और तकनीक उपलब्ध कराएँ, सरकार नीति एवं संसाधन उपलब्ध कराए, स्थानीय संस्थाएँ योजना और क्रियान्वयन में भाग लें और समुदाय अपने अनुभव, श्रम तथा स्थानीय ज्ञान के साथ नेतृत्वकारी भूमिका निभाए। इस प्रकार संरक्षण एक विभागीय कार्यक्रम न रहकर **साझी सामाजिक जिम्मेदारी** बन सकता है।

भाग–५ का समेकित निष्कर्ष

भाग–५ (**अध्याय 17 से अध्याय 22**) का मूल संदेश यह है कि भू-सांस्कृतिक क्षेत्र संरक्षण की सबसे स्वाभाविक, प्रभावी और स्थायी इकाइयों में बदल सकते हैं। जल से बस्तियों का निर्माण होता है, बस्तियों से कृषि और स्थानीय अर्थव्यवस्था विकसित होती है, कृषि से भोजन, आजीविका और सामाजिक सुरक्षा जुड़ती है, और इन सबके साथ भाषा, लोकगीत, त्योहार, विश्वास, कला, परंपराएँ तथा सामाजिक संस्थाएँ विकसित होती हैं। इस प्रकार प्रकृति और संस्कृति एक-दूसरे से गहराई से जुड़ी हुई हैं। इसलिए जब हम किसी नदी, तालाब, जंगल या खेत का संरक्षण करते हैं, तो वास्तव में हम केवल एक प्राकृतिक संसाधन की रक्षा नहीं करते, बल्कि उससे जुड़े व्यापक जीवन-तंत्र, स्थानीय ज्ञान, सांस्कृतिक पहचान और सामुदायिक अस्तित्व का भी संरक्षण करते हैं।

जल इस पूरी व्यवस्था की केंद्रीय धुरी है, क्योंकि वही प्रकृति, कृषि, बस्ती और जीवन के बीच संतुलन स्थापित करता है। पारंपरिक जल-ज्ञान हमें स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप विकसित समाधानों की शक्ति और उपयोगिता दिखाता है। नदियाँ हमें प्रकृति और सभ्यता के ऐतिहासिक संबंधों को समझने की प्रेरणा देती हैं। कृषि हमें जलवायु परिवर्तन, अनियमित वर्षा और प्राकृतिक संसाधनों पर बढ़ते दबाव के सामने स्थानीय लचीलेपन तथा अनुकूलन की आवश्यकता का बोध कराती है। इसी प्रकार लोकज्ञान और आधुनिक विज्ञान का समन्वय भविष्य के ऐसे ज्ञान-मॉडल की दिशा प्रदान करता है, जो वैज्ञानिक प्रमाणों के साथ स्थानीय अनुभवों और परंपराओं को भी महत्व देता है। समुदाय की सक्रिय भागीदारी इन प्रयासों को सामाजिक स्वीकार्यता, निरंतरता और दीर्घकालिक स्थायित्व प्रदान करती है।

इस प्रकार पुस्तक की मूल वैचारिक यात्रा—
भूगोल → संस्कृति → भू-सांस्कृतिक क्षेत्र → लोकज्ञान → संरक्षण → पुनर्जनन

एक सतत और परस्पर जुड़ा हुआ चक्र बनाती है। इस चक्र में प्रत्येक चरण अगले चरण को आधार प्रदान करता है। भूगोल जीवन की परिस्थितियाँ निर्मित करता है, संस्कृति उन परिस्थितियों के साथ मानवीय अनुकूलन को

अभिव्यक्त करती है, भू-सांस्कृतिक क्षेत्र इन संबंधों को एक व्यापक पहचान देते हैं, लोकज्ञान इनके अनुभवों और परंपराओं को संजोता है तथा संरक्षण और पुनर्जनन इनके भविष्य को सुरक्षित करने का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

अंततः संरक्षण का लक्ष्य केवल इतना सीमित नहीं होना चाहिए कि कोई नदी प्रदूषित न हो, कोई जंगल नष्ट न हो या कोई तालाब सूखने से बच जाए। इसका व्यापक उद्देश्य प्रकृति, संस्कृति और समुदाय के बीच उस मूलभूत संबंध को पुनर्जीवित करना होना चाहिए, जिसके माध्यम से विकास जीवन को समृद्ध बनाए और संरक्षण जीवन की आधारभूत प्रणालियों को सुरक्षित रखे। इसके लिए प्राकृतिक संसाधनों के विवेकपूर्ण उपयोग, स्थानीय समुदायों के अधिकारों, पारंपरिक ज्ञान के सम्मान और पर्यावरणीय संतुलन को विकास की प्रक्रिया का अभिन्न अंग बनाना आवश्यक है।

इसी अर्थ में "भूगोल से संस्कृति, संस्कृति से संरक्षण" केवल पुस्तक का शीर्षक नहीं, बल्कि भारत के विविध भू-दृश्यों, उनकी सांस्कृतिक विशिष्टताओं और समुदायों के जीवन-संबंधों को समझने की एक समग्र दृष्टि बन सकता है। यह दृष्टि हमें स्मरण कराती है कि भारत की वास्तविक समृद्धि उसकी भौगोलिक विविधता, सांस्कृतिक बहुलता और प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व की परंपराओं में निहित है। इन सभी तत्वों का समन्वित संरक्षण ही एक ऐसे भविष्य की आधारशिला रख सकता है, जहाँ विकास, पर्यावरणीय संतुलन और सांस्कृतिक निरंतरता एक-दूसरे के पूरक बनें।

भाग–६ :
तरुण भारत संघ का अनुभव

अध्याय-23
तरुण भारत संघ का अनुभव
भू-सांस्कृतिक दृष्टि से जल, समुदाय और प्रकृति के पुनर्जागरण की एक जीवित प्रयोगशाला

भारत के भू-सांस्कृतिक मानचित्र को यदि केवल भौगोलिक अध्ययन की दृष्टि से देखा जाए तो वह भूमि, जल, जलवायु, कृषि, वनस्पति, भाषा और संस्कृति के विविध स्वरूपों का एक व्यापक दस्तावेज बनकर रह जाएगा। किंतु यदि इसी मानचित्र को **संरक्षण और पुनर्जनन की कार्य-पद्धति** से जोड़ा जाए, तो यह स्थानीय समुदायों के लिए परिवर्तन का आधार बन सकता है। इस संदर्भ में **तरुण भारत संघ (Tarun Bharat Sangh—TBS)** का 50 वर्षों का अनुभव विशेष महत्त्व रखता है। TBS अपनी आधिकारिक वेबसाइट पर 1975 से जल संरक्षण, सतत कृषि, ग्रामीण विकास तथा जलवायु परिवर्तन के अनुकूलन और शमन से जुड़े कार्यों का उल्लेख करता है तथा अपने दृष्टिकोण को ग्राम-स्वराज और समुदाय-आधारित प्रकृति संरक्षण से जोड़ता है।

इस पुस्तक के संदर्भ में TBS का अनुभव इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि यहाँ जल केवल एक प्राकृतिक संसाधन नहीं रहता, बल्कि वह **समुदाय, अर्थव्यवस्था, कृषि, नदी, संस्कृति और स्थानीय नेतृत्व को जोड़ने वाली धुरी** बन जाता है। इसी कारण "भूगोल से संस्कृति, संस्कृति से संरक्षण" की अवधारणा को यदि किसी जीवंत कार्य-पद्धति के साथ समझना हो, तो TBS का अनुभव एक उपयोगी अध्ययन-क्षेत्र प्रस्तुत करता है।

23.1 तरुण भारत संघ : संरक्षण को जनजीवन से जोड़ने की दृष्टि

तरुण भारत संघ ने अपने कार्य को केवल जल-संरचना निर्माण तक सीमित नहीं रखा है। उसकी आधिकारिक प्रस्तुति में **प्रकृति का पुनर्जीवन, आजीविका का सृजन, समुदायों का सशक्तीकरण** (Reviving Nature, Creating Livelihood, Strengthening Communities) को मिशन के

रूप में रखा गया है। अर्थात् प्रकृति का पुनर्जीवन, आजीविका का सृजन और समुदाय का सशक्तीकरण—इन तीनों को एक-दूसरे से अलग नहीं देखा गया है।

यही बिंदु भू-सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। किसी गाँव का तालाब पुनर्जीवित होने पर केवल पानी नहीं बढ़ता; उसके साथ खेतों की उत्पादकता, पशुपालन, स्थानीय जैव-विविधता, महिलाओं के श्रम, ग्रामीण आजीविका और सामाजिक सहयोग की परिस्थितियाँ भी बदल सकती हैं। इसी प्रकार किसी सूखी नदी या जलधारा का पुनर्जीवन केवल जल-प्रवाह की बहाली नहीं है; उससे जुड़े गाँवों के कृषि-चक्र, मछली पालन, पशुधन, वनस्पति और सामाजिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ सकता है।

इस प्रकार TBS का अनुभव यह समझने में सहायता करता है कि **प्रकृति संरक्षण को स्थानीय जीवन से अलग करके नहीं देखा जा सकता।** संरक्षण तभी स्थायी हो सकता है जब वह समुदाय की आवश्यकताओं, जिम्मेदारियों और ज्ञान से जुड़ जाए।

23.2 जल संरक्षण : एक संसाधन नहीं, जीवन-प्रणाली

TBS के कार्य का सबसे प्रमुख आधार जल संरक्षण है। उसकी वर्तमान वेबसाइट के अनुसार संगठन हर वर्ष लगभग **100 अरब लीटर जल संरक्षण** करने का दावा करता है तथा विभिन्न राज्यों में वर्षा जल-संचयन और जल-सुरक्षा से जुड़े अनेक संकेतक प्रस्तुत करता है। राजस्थान के लिए वेबसाइट लगभग 90 अरब लीटर वार्षिक जल-संचयन और 13,800 वर्षा जल-संचयन संरचनाओं का उल्लेख करती है; हरियाणा के लिए 260 मिलियन लीटर और महाराष्ट्र के लिए 10 अरब लीटर जल-संचयन का उल्लेख है। ये TBS द्वारा प्रस्तुत संगठनात्मक प्रभाव-सूचकांक हैं और पुस्तक में इन्हें उसी रूप में संदर्भित किया जाना उचित होगा।

इन आँकड़ों का महत्त्व केवल उनकी मात्रा में नहीं है। इनके पीछे एक ऐसी कार्य-दृष्टि दिखाई देती है जिसमें वर्षा को समस्या या अपशिष्ट के रूप में नहीं, बल्कि **स्थानीय जल-संपदा** के रूप में देखने का प्रयास किया जाता है। वर्षा की प्रत्येक बूँद को स्थानीय जलागम में रोकना, उसे मिट्टी में पहुँचाना, भूजल

का पुनर्भरण करना और कृषि तथा घरेलू आवश्यकताओं के लिए उपलब्धता बढ़ाना इस दृष्टिकोण के मूल तत्व हैं।

भू-सांस्कृतिक मानचित्र के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण संकेत है। यदि किसी क्षेत्र की पहचान उसके वर्षा-पैटर्न, जलागम, मिट्टी, ढाल और पारंपरिक जल-संरचनाओं के आधार पर की जाए तो संरक्षण योजना भी उसी के अनुरूप बनाई जा सकती है। राजस्थान के शुष्क क्षेत्र के लिए जो समाधान उपयोगी होगा, वह हिमालयी क्षेत्र या पूर्वोत्तर भारत के अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों के लिए अनिवार्य रूप से उपयुक्त नहीं होगा।
इसलिए **"एक क्षेत्र—एक जल रणनीति"** के बजाय **"प्रत्येक भू-सांस्कृतिक क्षेत्र—उसकी अपनी जल रणनीति"** अधिक उपयुक्त अवधारणा बन सकती है।

23.3 जोहड़ : एक छोटी संरचना से बड़े पारिस्थितिक परिवर्तन तक

TBS के अनुभव को समझने में **जोहड़** का विशेष स्थान है। जोहड़ सामान्यतः वर्षाजल को रोकने और स्थानीय जलागम में संचित करने वाली पारंपरिक संरचना है। लेकिन इसकी उपयोगिता केवल एक छोटे जलाशय के रूप में नहीं समझी जानी चाहिए। किसी क्षेत्र की ढाल, मिट्टी, वर्षा और जलनिकासी व्यवस्था के अनुरूप बनाई गई संरचना स्थानीय जलचक्र को प्रभावित कर सकती है।

जोहड़ में वर्षा का पानी रुकता है, धीरे-धीरे मिट्टी में समा सकता है और आसपास के भूजल स्तर को प्रभावित कर सकता है। इससे कुओं में पानी की उपलब्धता बढ़ सकती है और कृषि के लिए सिंचाई की परिस्थितियाँ सुधर सकती हैं। जल उपलब्धता बढ़ने पर वनस्पति और पशुधन के लिए भी परिस्थितियाँ बदल सकती हैं। इस प्रकार एक स्थानीय जल-संरचना का प्रभाव बहुस्तरीय हो सकता है।

TBS की आधिकारिक सामग्री जल-संरक्षण संरचनाओं को सामुदायिक परिवर्तन के साथ जोड़ती है और उसके प्रभाव पृष्ठ पर वर्षा जल-संचयन, जल-सुरक्षा तथा सामुदायिक नेतृत्व को अलग-अलग नहीं, बल्कि एक व्यापक परिवर्तन-प्रक्रिया के हिस्से के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

इस अनुभव से भू-सांस्कृतिक मानचित्र के लिए एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत निकलता है—**जल-संरचना को उसके जलागम और समुदाय से अलग करके नहीं देखना चाहिए।**

एक जोहड़ केवल "एक संरचना" नहीं है। वह एक छोटे जलागम का प्रवेश-बिंदु है। उसके आसपास की भूमि, खेत, चरागाह, वनस्पति, कुएँ, पशुधन और मानव बस्ती उसके साथ एक संबंध-तंत्र बनाते हैं। यही संबंध उसे भू-सांस्कृतिक इकाई का हिस्सा बनाता है।

23.4 पारंपरिक जल-संरचनाओं का पुनर्पाठ

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में तालाब, जोहड़, बावड़ी, कुएँ, कुंड, आहर-पाइन, झील, नाला-बाँध, खाल, चाल और अन्य स्थानीय जल-संरचनाएँ विकसित हुईं। इनका निर्माण किसी एक केंद्रीय डिजाइन से नहीं, बल्कि स्थानीय भौगोलिक परिस्थितियों और सामुदायिक अनुभव से हुआ।

TBS का अनुभव इस परंपरा को आधुनिक संदर्भ में पुनर्पाठ करने की संभावना दिखाता है। यहाँ प्रश्न यह नहीं होना चाहिए कि "पुरानी संरचना को जस का तस वापस कैसे लाया जाए?" बल्कि प्रश्न यह होना चाहिए कि **उस पारंपरिक प्रणाली के पीछे कौन-सा जलवैज्ञानिक सिद्धांत था और उसे वर्तमान परिस्थितियों में कैसे पुनर्जीवित किया जा सकता है?**

आज भूमि उपयोग बदल गया है, गाँवों का विस्तार हुआ है, सड़कों और भवनों का निर्माण बढ़ा है और वर्षा का वितरण भी कई क्षेत्रों में अधिक अनिश्चित हुआ है। इसलिए पारंपरिक संरचना के पुनर्जीवन के साथ आधुनिक जल-विज्ञान, भू-स्थानिक तकनीक और जलग्रहण क्षेत्र के वैज्ञानिक अध्ययन को जोड़ा जा सकता है। यही वह स्थान है जहाँ **लोकज्ञान और आधुनिक विज्ञान** एक-दूसरे के सहयोगी बनते हैं।

23.5 नदी पुनर्जीवन : जलधारा से नदी-तंत्र तक

TBS के अनुभव का दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष नदी और जलधारा पुनर्जीवन है। संगठन की वर्तमान वेबसाइट 13 नदियों/जलधाराओं के पुनर्जीवन का संकेत देती है तथा विभिन्न नदी-संरक्षण अभियानों और नदी स्वयंसेवकों का भी उल्लेख करती है। उसके प्रभाव पृष्ठ पर "13 नदियों का पुनर्जीवन" और

"पाँच नदियों को अतिक्रमण" से बचाने संबंधी संगठनात्मक प्रभाव-सूचकांक दिए गए हैं।

यहाँ नदी पुनर्जीवन की अवधारणा को केवल नदी में पानी वापस लाने तक सीमित नहीं करना चाहिए। किसी नदी या मौसमी धारा के पुनर्जीवन के लिए उसके **उद्गम क्षेत्र, जलागम, वर्षा, मिट्टी, भूजल, सहायक धाराओं और मानव उपयोग** को एक साथ समझना आवश्यक है।

TBS के वाटरमैन अकादमिकी (Waterman Academy) पाठ्यक्रम में भी नदी को मानव सभ्यता से जोड़ते हुए नदी के पारिस्थितिक तंत्र, समुदाय और पारंपरिक जल संरक्षण को एक साथ समझने की आवश्यकता पर बल दिया गया है। पाठ्यक्रम में नदी पुनर्जीवन, भूजल पुनर्भरण और समुदाय-आधारित जलागम प्रबंधन के उदाहरणों को भी शामिल किया गया है।

भू-सांस्कृतिक मानचित्र के लिए इसका अर्थ है कि किसी नदी को मानचित्र पर केवल नीली रेखा के रूप में न दिखाया जाए। उसके साथ जुड़े गाँव, खेत, वन, चरागाह, तालाब, धार्मिक स्थल, घाट, मछुआरा समुदाय, कृषि व्यवस्था और स्थानीय लोककथाएँ भी उस नदी की सांस्कृतिक भूगोल का हिस्सा हैं।

23.6 जल बिरादरी : जल को सामाजिक सरोकार बनाना

जल बिरादरी TBS के अनुभव का एक विशिष्ट सामाजिक आयाम प्रस्तुत करती है। TBS की आधिकारिक वेबसाइट के प्रभाव पृष्ठ के अनुसार जल बिरादरी जल संरक्षण से जुड़े पेशेवरों, वकीलों, जल-विज्ञान विशेषज्ञों, शोधकर्ताओं, सामाजिक कार्यकर्ताओं, नीति-निर्माताओं तथा अन्य व्यक्तियों का नेटवर्क है। उसी पृष्ठ पर जल बिरादरी से जुड़े लगभग 200 सदस्यों का उल्लेख किया गया है।

इस अवधारणा का महत्त्व इसलिए है कि जल की समस्या किसी एक विभाग या विशेषज्ञ की समस्या नहीं है। जल-विज्ञान विशेषज्ञ नदी का वैज्ञानिक व्यवहार समझ सकता है; किसान कृषि की वास्तविक आवश्यकता समझता है; स्थानीय महिला जल-स्रोत की सामाजिक उपयोगिता समझ सकती है; पंचायत स्थानीय निर्णय-प्रक्रिया को समझती है; और नीति-निर्माता कानून एवं संस्थागत व्यवस्था को।

इन सभी ज्ञानों को जोड़ने पर जल संरक्षण अधिक व्यापक रूप ग्रहण करता है।

इस अर्थ में **जल बिरादरी केवल लोगों का संगठन नहीं, बल्कि ज्ञान और जिम्मेदारी का नेटवर्क** मानी जा सकती है। यह विचार भू-सांस्कृतिक मानचित्र के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक क्षेत्र में स्थानीय जल बिरादरी के रूप में किसान, जल-उपयोगकर्ता, शिक्षक, युवा, वैज्ञानिक, सामाजिक कार्यकर्ता और स्थानीय प्रशासन के बीच संवाद की व्यवस्था विकसित की जा सकती है।

23.7 सामुदायिक भागीदारी : संरक्षण का सामाजिक आधार

जल-संरक्षण की कोई भी संरचना तभी स्थायी हो सकती है जब उसका सामाजिक स्वामित्व और जिम्मेदारी स्थानीय स्तर पर विकसित हो। केवल संरचना बनाकर छोड़ देना दीर्घकालीन संरक्षण की गारंटी नहीं देता।
TBS अपने प्रभाव पृष्ठ पर लगभग **10,000 'जल योद्धा' या स्वयंसेवकों** का उल्लेख करता है, जिन्हें वह अपने समुदायों में परिवर्तन के लिए सक्रिय कार्यकर्ताओं के रूप में प्रस्तुत करता है। इसी पृष्ठ पर दस "River Parliaments" तथा प्राकृतिक संसाधनों के सामूहिक प्रबंधन की दिशा में समुदाय की बढ़ती जिम्मेदारी का उल्लेख भी है।

यह अनुभव इस पुस्तक की मूल अवधारणा से सीधे जुड़ता है। यदि भू-सांस्कृतिक क्षेत्र को संरक्षण की इकाई माना जाता है, तो उस क्षेत्र का संरक्षण बाहर से थोपा गया कार्यक्रम नहीं होना चाहिए। वहाँ रहने वाले लोग उस क्षेत्र के **ज्ञान-सहभागी, निर्णय-सहभागी और संरक्षण-सहभागी** होने चाहिए। सामुदायिक भागीदारी का अर्थ केवल श्रमदान नहीं है। इसका अर्थ है—समस्या की पहचान, प्राथमिकता निर्धारण, योजना निर्माण, संसाधनों का उपयोग, निगरानी, रखरखाव और परिणामों का सामाजिक मूल्यांकन।

23.8 स्थानीय नेतृत्व : परिवर्तन का सबसे महत्वपूर्ण तत्व

भू-सांस्कृतिक संरक्षण में स्थानीय नेतृत्व की भूमिका केंद्रीय है। किसी बाहरी संस्था द्वारा कुछ समय के लिए चलाया गया कार्यक्रम समाप्त हो सकता है, लेकिन यदि स्थानीय नेतृत्व तैयार हो जाए तो संरक्षण की प्रक्रिया स्वयं आगे बढ़ सकती है।

स्थानीय नेतृत्व का अर्थ केवल निर्वाचित प्रतिनिधि नहीं है। गाँव का किसान, शिक्षक, महिला समूह की सदस्य, युवा स्वयंसेवक, पशुपालक, स्थानीय कारीगर या जल-स्रोत की देखभाल करने वाला व्यक्ति भी स्थानीय नेतृत्व का हिस्सा हो सकता है।

TBS की कार्य-दृष्टि में समुदाय को प्राकृतिक संसाधनों के प्रबंधन में सक्रिय भूमिका देने पर जोर दिखाई देता है। उसकी आधिकारिक वेबसाइट स्वयं अपने दृष्टिकोण को ग्राम-स्वराज से जोड़ती है।

भू-सांस्कृतिक मानचित्र इस स्थानीय नेतृत्व की पहचान और नेटवर्किंग का माध्यम बन सकता है। प्रत्येक क्षेत्र में यह दर्ज किया जा सकता है कि कौन-से जल-स्रोत सामुदायिक रूप से संचालित हैं, कौन-से किसान समूह सक्रिय हैं, कौन-से युवा संगठन पर्यावरणीय कार्य कर रहे हैं और किन स्थानीय संस्थाओं के पास पारंपरिक ज्ञान उपलब्ध है।

इस प्रकार मानचित्र केवल "भूगोल का नक्शा" नहीं रहेगा; वह **स्थानीय क्षमता का मानचित्र** भी बन सकता है।

23.9 ग्राम-स्तरीय निर्णय और ग्राम स्वराज

TBS की कार्य-दृष्टि को ग्राम-स्वराज से जोड़ना इस पुस्तक के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। ग्राम-स्वराज का मूल विचार यह है कि स्थानीय समुदाय अपने जीवन और प्राकृतिक संसाधनों से जुड़े निर्णयों में सक्रिय भूमिका निभाए।

जल का उपयोग कहाँ होगा? तालाब की सफाई कब होगी? चरागाह का उपयोग कैसे होगा? किस क्षेत्र में वृक्षारोपण होना चाहिए? किस प्रकार की फसल पानी की उपलब्धता के अनुरूप है? नदी या नाले में प्रदूषण कहाँ से आ रहा है? ऐसे प्रश्नों के उत्तर स्थानीय स्तर पर सबसे पहले दिखाई देते हैं। इसलिए भू-सांस्कृतिक संरक्षण में ग्राम-स्तरीय निर्णय प्रक्रिया को संस्थागत रूप दिया जा सकता है। ग्रामसभा, जल समिति, किसान समूह, महिला समूह और युवा समूह मिलकर स्थानीय जल एवं प्राकृतिक संसाधन योजना तैयार कर सकते हैं।

यहाँ वैज्ञानिक संस्थानों की भूमिका समाप्त नहीं होती। बल्कि वे स्थानीय निर्णय को वैज्ञानिक आंकड़ों, जल बजट, वर्षा डेटा, भूजल स्तर, मिट्टी परीक्षण और जैव-विविधता अध्ययन से मजबूत कर सकते हैं।

इस प्रकार मॉडल होगा—
स्थानीय अनुभव + वैज्ञानिक प्रमाण + सामुदायिक निर्णय + संस्थागत सहयोग = भू-सांस्कृतिक संरक्षण।

23.10 प्रकृति-आधारित पुनर्जनन

TBS के अनुभव को केवल "जल संरक्षण" के रूप में देखना उसके व्यापक प्रभाव को सीमित कर देगा। उसकी वेबसाइट अपने मिशन को प्रकृति के पुनर्जीवन, आजीविका सृजन और समुदायों को मजबूत करने से जोड़ती है।

जल-संरक्षण से जुड़े कार्यों का प्रभाव यदि मिट्टी, वनस्पति, कृषि और भूजल पर पड़ता है, तो यह एक प्रकार का **प्रकृति-आधारित पुनर्जनन** बन सकता है। यहाँ पुनर्जनन का अर्थ किसी एक संसाधन को पुनर्स्थापित करना नहीं, बल्कि पारिस्थितिक संबंधों को पुनः सक्रिय करना है।

उदाहरण के लिए वर्षाजल को रोकने से भूजल पुनर्भरण बढ़ सकता है; भूजल बढ़ने से कुओं में पानी की उपलब्धता बेहतर हो सकती है; जल उपलब्धता बढ़ने से कृषि और वनस्पति को सहायता मिल सकती है; वनस्पति बढ़ने से मिट्टी का संरक्षण हो सकता है; मिट्टी का संरक्षण जलागम की क्षमता को प्रभावित कर सकता है। इस प्रकार एक चक्रीय प्रक्रिया बनती है।

यही **पुनर्जननात्मक दृष्टि** भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों को संरक्षण की प्रयोगशाला बना सकती है।

23.11 जल संरक्षण से आजीविका तक

संरक्षण और आजीविका को अलग-अलग समझना अक्सर व्यावहारिक कठिनाइयाँ पैदा करता है। यदि किसी क्षेत्र में संरक्षण के नाम पर स्थानीय समुदाय की आजीविका बाधित होती है, तो संरक्षण और समुदाय के बीच तनाव पैदा हो सकता है। इसके विपरीत यदि संरक्षण से जल सुरक्षा, कृषि उत्पादकता, पशुपालन, स्थानीय रोजगार और खाद्य सुरक्षा में सुधार की

संभावना बनती है, तो संरक्षण सामाजिक रूप से अधिक टिकाऊ हो सकता है।

TBS अपने प्रभाव पृष्ठ पर कृषि उत्पादकता, दूध उत्पादन और आय स्तर में वृद्धि जैसे संगठन द्वारा दर्ज किए गए प्रभाव संकेतक प्रस्तुत करता है। इन दावों को पुस्तक में **TBS के स्वयं-रिपोर्ट किए गए प्रभाव** के रूप में प्रस्तुत करना उचित होगा, न कि स्वतंत्र रूप से सत्यापित राष्ट्रीय आँकड़ों के रूप में।
इससे एक व्यापक सिद्धांत सामने आता है—**प्रकृति का पुनर्जीवन और ग्रामीण अर्थव्यवस्था का पुनर्जीवन परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि उचित परिस्थितियों में एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं।**

23.12 महिलाओं की भूमिका और जल-सुरक्षा

जल संकट का सामाजिक प्रभाव सभी पर समान नहीं होता। ग्रामीण क्षेत्रों में घरेलू जल-संग्रह का दायित्व कई बार महिलाओं और बालिकाओं पर अधिक पड़ता है। इसलिए स्थानीय जल स्रोतों का पुनर्जीवन केवल पर्यावरणीय लाभ नहीं, बल्कि समय, श्रम और सामाजिक अवसरों से जुड़ा विषय भी है।

TBS अपने प्रभाव पृष्ठ पर महिलाओं और बालिकाओं के जल लाने के श्रम में कमी तथा महिलाओं की ग्राम-विकास में बढ़ती भागीदारी से जुड़े संकेतक प्रस्तुत करता है।

भू-सांस्कृतिक मानचित्रण में इसलिए केवल तालाबों और नदियों को दर्ज करना पर्याप्त नहीं होगा। यह भी दर्ज किया जाना चाहिए कि **जल संकट का सामाजिक भार किस पर पड़ता है और जल-सुरक्षा से किसे क्या परिवर्तन प्राप्त होता है।** इससे भू-सांस्कृतिक मानचित्र एक अधिक मानवीय दस्तावेज बन सकता है।

23.13 जल साक्षरता : संरक्षण से पहले समझ

जल-संरक्षण की दीर्घकालिक सफलता के लिए केवल संरचनाएँ पर्याप्त नहीं हैं; जल के प्रति सामाजिक समझ भी आवश्यक है। TBS अपनी वेबसाइट पर जल साक्षरता, प्रशिक्षण, जल योद्धाओं और नदी स्वयंसेवकों से संबंधित कई कार्यक्रमों और प्रभाव संकेतकों का उल्लेख करता है। उसकी वर्तमान प्रस्तुति में प्रति वर्ष 5,000 से अधिक जल योद्धाओं को प्रशिक्षित करने का

लक्ष्य/संकेतक तथा उसके प्रभाव पृष्ठ पर बड़े पैमाने पर जल-संरक्षण विशेषज्ञों, शोधकर्ताओं और अन्य प्रतिभागियों के प्रशिक्षण का उल्लेख है।

जल साक्षरता का अर्थ केवल यह जानना नहीं कि पानी बचाना चाहिए। इसका अर्थ है—जल कहाँ से आता है, किस जलागम से जुड़ा है, भूजल कैसे पुनर्भरित होता है, नदी का प्रवाह कैसे बना रहता है, प्रदूषण कहाँ से आता है और स्थानीय जल बजट क्या है।

यदि प्रत्येक भू-सांस्कृतिक क्षेत्र के विद्यालयों, महाविद्यालयों और ग्राम संस्थाओं में स्थानीय जल का अध्ययन कराया जाए तो आने वाली पीढ़ी अपने क्षेत्र को केवल "गाँव" या "जिले" के रूप में नहीं, बल्कि एक **जीवित जल-पारिस्थितिक तंत्र** के रूप में समझ सकेगी।

23.14 नदी संसद : नदी के लिए सामाजिक संवाद

TBS के प्रभाव पृष्ठ पर नदी संसदें **(River Parliaments)** की स्थापना का उल्लेख मिलता है। नदी संसद की अवधारणा को व्यापक भू-सांस्कृतिक संदर्भ में देखा जा सकता है। किसी नदी से जुड़े गाँवों, किसानों, मछुआरों, महिलाओं, युवाओं, वैज्ञानिकों, सामाजिक संगठनों और प्रशासन के बीच नियमित संवाद की आवश्यकता होती है। नदी एक प्रशासनिक सीमा को नहीं मानती; इसलिए नदी के संरक्षण की योजना भी केवल एक गाँव या एक प्रशासनिक इकाई तक सीमित नहीं हो सकती।
नदी संसद जैसी व्यवस्था का उद्देश्य किसी औपचारिक संसद का विकल्प बनना नहीं, बल्कि नदी से जुड़े समुदायों के लिए **संवाद, साझा चिंता और सामूहिक कार्रवाई का मंच** बनाना हो सकता है।

यही अवधारणा 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों के संदर्भ में आगे बढ़ाई जा सकती है। प्रत्येक नदी घाटी या जलागम आधारित भू-सांस्कृतिक क्षेत्र में स्थानीय "जल संवाद" या "भू-सांस्कृतिक परिषद" जैसी सहभागी व्यवस्था विकसित की जा सकती है।

23.15 TBS अनुभव और "तीन मानचित्र, एक भारत"

पुस्तक के पहले भागों में विकसित **15 कृषि-जलवायवीय क्षेत्र → 50 भौगोलिक-भौतिक इकाइयाँ → 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र** की अवधारणा

को TBS के अनुभव से जोड़ने पर इस पूरी संरचना का व्यावहारिक पक्ष स्पष्ट होने लगता है।

15 कृषि-जलवायवीय क्षेत्र हमें बताते हैं कि जलवायु और कृषि की व्यापक परिस्थितियाँ कैसी हैं। 50 भौगोलिक-भौतिक इकाइयाँ भूमि, पर्वत, पठार, मैदान, नदी घाटी और अन्य प्राकृतिक संरचनाओं को समझने में सहायता करती हैं। 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र इन दोनों के ऊपर मानव जीवन, स्थानीय संस्कृति, आजीविका और सामुदायिक ज्ञान को जोड़ते हैं।

TBS का अनुभव चौथे आयाम की ओर संकेत करता है—
मानचित्र → समुदाय → कार्य → पुनर्जनन।

अर्थात् मानचित्र केवल यह न बताए कि क्षेत्र कहाँ है; वह यह भी बताए कि उस क्षेत्र में **क्या बचाना है, किसके साथ बचाना है, कौन-सा स्थानीय ज्ञान उपलब्ध है और पुनर्जनन की शुरुआत कहाँ से की जा सकती है।**

23.16 भू-सांस्कृतिक मानचित्र : सिद्धांत से कार्य-ढाँचे तक

यहीं इस पुस्तक की केंद्रीय अवधारणा अपना व्यावहारिक अर्थ प्राप्त करती है। यदि 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र केवल पहचान और वर्गीकरण के लिए बनाए जाएँ तो उनका उपयोग सीमित रह जाएगा। लेकिन यदि प्रत्येक क्षेत्र के लिए प्राकृतिक संसाधनों, स्थानीय संस्कृति, जल संरचनाओं, आजीविका और सामुदायिक संस्थाओं का एक **स्थानीय संरक्षण प्रोफाइल** तैयार किया जाए, तो वही मानचित्र संरक्षण-योजना का आधार बन सकता है।

प्रत्येक भू-सांस्कृतिक क्षेत्र के लिए निम्न प्रश्न पूछे जा सकते हैं—यहाँ वर्षा कितनी और किस प्रकार होती है? प्रमुख जलागम कौन-से हैं? नदियाँ और मौसमी धाराएँ कहाँ हैं? कितने पारंपरिक तालाब, कुएँ, जोहड़ या अन्य जल-स्रोत हैं? भूजल की स्थिति क्या है? प्रमुख कृषि प्रणाली कौन-सी है? स्थानीय बीज कौन-से हैं? कौन-सी जैव-विविधता महत्त्वपूर्ण है? कौन-से लोकज्ञान अभी जीवित हैं? कौन-से पर्यावरणीय संकट उभर रहे हैं? स्थानीय स्तर पर कौन-से समूह संरक्षण के लिए सक्रिय हैं?

इन प्रश्नों के उत्तरों को भौगोलिक सूचना प्रणाली (GIS), रिमोट सेंसिंग, स्थानीय सर्वेक्षण, ग्रामसभा संवाद और मौखिक इतिहास के साथ जोड़ा जा

सकता है। तब एक भू-सांस्कृतिक मानचित्र **"स्टेटिक मैप"** न रहकर **"लिविंग एटलस"** बन सकता है।

23.17 एक संभावित भू-सांस्कृतिक संरक्षण मॉडल

TBS के अनुभव और पुस्तक में विकसित भू-सांस्कृतिक अवधारणा को मिलाकर एक संभावित संरक्षण मॉडल इस प्रकार विकसित किया जा सकता है—

पहला चरण — पहचान।
क्षेत्र की भौगोलिक, जलवायु और सांस्कृतिक विशेषताओं की पहचान।

दूसरा चरण — जल मानचित्रण।
नदियों, धाराओं, तालाबों, कुओं, जोहड़ों, झीलों, आर्द्रभूमियों और भूजल क्षेत्रों का मानचित्रण।

तीसरा चरण — समुदाय मानचित्रण।
ग्राम संस्थाओं, किसान समूहों, महिला समूहों, युवाओं, स्थानीय ज्ञानधारकों और स्वयंसेवकों की पहचान।

चौथा चरण — ज्ञान का समन्वय।
स्थानीय अनुभव को जल-विज्ञान, कृषि-विज्ञान, भू-विज्ञान और आधुनिक तकनीक से जोड़ना।

पाँचवाँ चरण — ग्राम-स्तरीय योजना।
जलागम आधारित संरक्षण और पुनर्जनन की प्राथमिकताएँ समुदाय के साथ तय करना।

छठा चरण — पुनर्जनन।
वर्षाजल-संचयन, जल-स्रोत पुनर्जीवन, मृदा-संरक्षण, जैव-विविधता संरक्षण और सतत कृषि को एकीकृत करना।

सातवाँ चरण — निगरानी।
जलस्तर, प्रवाह, कृषि, जैव-विविधता और सामाजिक प्रभावों का नियमित दस्तावेजीकरण।

आठवाँ चरण — ज्ञान का विस्तार।
सफल अनुभवों को समान भू-सांस्कृतिक परिस्थितियों वाले अन्य क्षेत्रों तक पहुँचाना।

यह मॉडल किसी एक संस्था के लिए निर्धारित योजना के रूप में नहीं, बल्कि पुस्तक में प्रस्तावित **भू-सांस्कृतिक संरक्षण के संभावित कार्य-ढाँचे** के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

23.18 TBS के अनुभव से मिलने वाली व्यापक सीख

तरुण भारत संघ के अनुभव से इस पुस्तक के लिए कुछ महत्वपूर्ण अवधारणाएँ उभरती हैं। पहली, **जल संरक्षण को स्थानीय भूगोल से जोड़ना आवश्यक है।** दूसरी, पारंपरिक जल-संरचनाओं का पुनर्जीवन केवल विरासत संरक्षण नहीं, बल्कि वर्तमान जल-सुरक्षा का हिस्सा हो सकता है। तीसरी, नदी को उसके पूरे जलागम और सामाजिक-पारिस्थितिक तंत्र के साथ समझना आवश्यक है। चौथी, समुदाय संरक्षण का लाभार्थी ही नहीं, बल्कि निर्णय और क्रियान्वयन का सहभागी भी हो सकता है। पाँचवीं, स्थानीय नेतृत्व और जल-साक्षरता दीर्घकालीन संरक्षण के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। छठी, संरक्षण को आजीविका और स्थानीय अर्थव्यवस्था से जोड़ना उसकी सामाजिक स्थिरता को मजबूत कर सकता है। सातवीं, आधुनिक विज्ञान और लोकज्ञान को परस्पर विरोधी मानने के बजाय संवादात्मक ढाँचे में रखा जा सकता है।

TBS की वेबसाइट पर उपलब्ध वार्षिक प्रगति रिपोर्टों की श्रृंखला भी यह दर्शाती है कि संगठन ने विभिन्न दशकों के कार्य को दस्तावेजीकृत करने का प्रयास किया है। वर्तमान वेबसाइट पर 1985–95 से लेकर 2023–24 तक की विभिन्न प्रगति रिपोर्टों की सूची उपलब्ध है।

इस प्रकार TBS का अनुभव केवल एक क्षेत्रीय जल-संरक्षण कथा नहीं, बल्कि कई दशकों में विकसित **समुदाय, जल और प्रकृति के संबंध का दस्तावेजी अनुभव** माना जा सकता है। इसके प्रत्येक दावे और प्रभाव-सूचकांक को, पुस्तक के अंतिम संस्करण में, जहाँ संभव हो, संबंधित मूल रिपोर्ट से भी सत्यापित करके उद्धृत करना उपयोगी होगा।

23.19 "86 क्षेत्र—86 संरक्षण प्रयोगशालाएँ"

इस पुस्तक की एक महत्त्वपूर्ण संभावित परिणति यह हो सकती है कि **86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों को 86 संरक्षण प्रयोगशालाओं** के रूप में देखा जाए।

प्रत्येक क्षेत्र में समाधान अलग हो सकता है। कहीं जोहड़ प्रमुख होंगे, कहीं तालाब, कहीं झील और आर्द्रभूमि, कहीं पर्वतीय जलधाराएँ, कहीं पारंपरिक सिंचाई प्रणालियाँ और कहीं नदी-जलागम पुनर्जीवन। कहीं प्राथमिक चुनौती भूजल होगी, कहीं बाढ़, कहीं सूखा, कहीं मृदा क्षरण और कहीं जैव-विविधता का संरक्षण।

इसलिए 86 क्षेत्रों के लिए एक समान संरक्षण मॉडल लागू करना उचित नहीं होगा। आवश्यकता होगी **स्थान-विशिष्ट, समुदाय-आधारित और विज्ञान-सम्मत संरक्षण रणनीतियों** की।

यहीं TBS का अनुभव एक प्रेरक संदर्भ प्रदान करता है। उसने जल संरक्षण को समुदाय और स्थानीय परिस्थितियों से जोड़ने का एक दीर्घकालिक अनुभव विकसित किया है। इस अनुभव का अध्ययन करके अन्य भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों के लिए स्थानीय रूपांतरण विकसित किए जा सकते हैं—बिना यह मान लिए कि किसी एक क्षेत्र का मॉडल दूसरे क्षेत्र में ज्यों का त्यों लागू किया जा सकता है।

23.20 भविष्य की दिशा : भू-सांस्कृतिक संरक्षण मिशन

भविष्य में इस अवधारणा को एक व्यापक **"राष्ट्रीय भू-सांस्कृतिक संरक्षण मिशन"** के रूप में विकसित करने की संभावना पर विचार किया जा सकता है। इसका उद्देश्य किसी नई प्रशासनिक व्यवस्था का निर्माण नहीं, बल्कि मौजूदा वैज्ञानिक, सामाजिक और स्थानीय संस्थाओं को एक साझा भौगोलिक दृष्टि से जोड़ना होगा।

इस मिशन के अंतर्गत प्रत्येक भू-सांस्कृतिक क्षेत्र का डिजिटल प्रोफाइल बनाया जा सकता है। उसमें प्राकृतिक संसाधन, जल संरचनाएँ, नदियाँ, कृषि, जैव-विविधता, स्थानीय ज्ञान, सांस्कृतिक परंपराएँ, पर्यावरणीय संकट और सामुदायिक संस्थाएँ दर्ज की जा सकती हैं। प्रत्येक क्षेत्र के लिए **जल बजट, प्राकृतिक संसाधन बजट और पुनर्जनन योजना** तैयार की जा सकती है।

विद्यालयों और विश्वविद्यालयों को स्थानीय क्षेत्र के अध्ययन से जोड़ा जा सकता है। वैज्ञानिक संस्थान निगरानी और मूल्यांकन कर सकते हैं। स्थानीय समुदाय निर्णय प्रक्रिया में भाग ले सकते हैं। सामाजिक संस्थाएँ प्रशिक्षण और जन-जागरूकता का कार्य कर सकती हैं। सरकार वित्त, नीति और तकनीकी सहायता उपलब्ध करा सकती है। इस प्रकार TBS जैसा अनुभव किसी एक संस्था की सीमा में बंद न रहकर **ज्ञान और कार्य-पद्धति के अध्ययन के स्रोत** के रूप में उपयोग किया जा सकता है।

23.21 निष्कर्ष : अनुभव से अवधारणा, अवधारणा से कार्य

तरुण भारत संघ का अनुभव इस पुस्तक की केंद्रीय अवधारणा को एक व्यावहारिक संदर्भ प्रदान करता है। जल संरक्षण, जोहड़ और पारंपरिक जल-संरचनाएँ, नदी पुनर्जीवन, जल बिरादरी, जल योद्धा, स्थानीय नेतृत्व, ग्राम-स्तरीय निर्णय और प्रकृति के पुनर्जीवन से जुड़े उसके कार्यों को भू-सांस्कृतिक दृष्टि से पढ़ने पर यह स्पष्ट होता है कि **प्राकृतिक संसाधन और सामाजिक संस्थाएँ अलग-अलग संसार नहीं हैं।**

TBS की वर्तमान आधिकारिक वेबसाइट पर प्रस्तुत प्रभाव संकेतक—जैसे 13 नदियों का पुनर्जीवन, बड़े पैमाने पर वर्षा जल-संचयन, जल-सुरक्षा, जल योद्धाओं और नदी संसदों का उल्लेख—इस कार्य-दृष्टि के संगठन द्वारा प्रस्तुत परिणामों को दर्शाते हैं।

इस अनुभव को इस पुस्तक में किसी अंतिम या सार्वभौमिक मॉडल के रूप में प्रस्तुत करने के बजाय **एक जीवित केस-स्टडी और कार्य-अनुभव** के रूप में रखना अधिक उपयुक्त होगा। इसका सबसे बड़ा महत्व इस बात में है कि यह प्रश्न उठाता है—

क्या भारत के प्रत्येक भू-सांस्कृतिक क्षेत्र में स्थानीय जल, स्थानीय ज्ञान और स्थानीय समुदाय को संरक्षण की केंद्रीय इकाई बनाया जा सकता है?

यहीं से पुस्तक की अवधारणा एक नई दिशा प्राप्त करती है।
15 कृषि-जलवायवीय क्षेत्र हमें व्यापक पर्यावरणीय परिस्थितियाँ बताते हैं।
50 भौगोलिक-भौतिक इकाइयाँ हमें धरती की संरचना समझाती हैं।

86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र हमें मानव और प्रकृति के संबंध को समझाते हैं।

और **TBS का अनुभव** यह प्रश्न सामने रखता है कि इन क्षेत्रों में संरक्षण और पुनर्जनन की वास्तविक प्रक्रिया कैसे विकसित हो सकती है।

अतः इस पुस्तक में **भू-सांस्कृतिक मानचित्र केवल वर्गीकरण का साधन नहीं, बल्कि संभावित संरक्षण-कार्य का आधार** बन सकता है। उसका उद्देश्य यह तय करना नहीं कि प्रत्येक क्षेत्र में एक ही समाधान लागू हो, बल्कि यह समझना है कि प्रत्येक क्षेत्र की अपनी प्रकृति, अपनी जल-व्यवस्था, अपना लोकज्ञान और अपनी सामुदायिक शक्ति है।

इसी विचार को एक सूत्र में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—
"मानचित्र क्षेत्र को पहचानता है,
समुदाय उसे समझता है,
जल उसे जोड़ता है,
लोकज्ञान दिशा देता है,
ज्ञान उसे प्रमाणित करता है,
और सामूहिक प्रयास उसे पुनर्जीवित करता है।"

इस प्रकार **"भूगोल से संस्कृति, संस्कृति से संरक्षण"** की यात्रा का अगला चरण है—

भू-सांस्कृतिक मानचित्र → स्थानीय समुदाय → जल-सुरक्षा → प्रकृति पुनर्जनन → सतत आजीविका → जीवंत भारत।

यही इस पुस्तक के भाग–६ (**अध्याय-23**) का केंद्रीय संदेश और TBS अनुभव का भू-सांस्कृतिक पुनर्पाठ है।

भाग–७:
जलवायु परिवर्तन और भू-सांस्कृतिक भविष्य

जलवायु परिवर्तन और भू-सांस्कृतिक भविष्य

जलवायु परिवर्तन को सामान्यतः तापमान में वृद्धि, वर्षा के स्वरूप में परिवर्तन, सूखा, बाढ़, हिमनदों के पिघलने, समुद्र-स्तर वृद्धि और चरम मौसम की घटनाओं के संदर्भ में समझा जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से ये परिवर्तन अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन भू-सांस्कृतिक दृष्टि से इनका प्रभाव इससे कहीं व्यापक है। जलवायु किसी क्षेत्र की केवल भौतिक परिस्थितियों को प्रभावित नहीं करती; वह **कृषि, जल-व्यवस्था, पशुपालन, वन, आजीविका, भोजन, आवास, प्रवासन, लोकज्ञान, त्योहारों, सामाजिक संबंधों और सांस्कृतिक पहचान** तक को प्रभावित कर सकती है।

भारत के लिए यह प्रश्न विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि यहाँ हिमालय से लेकर तटीय क्षेत्र, शुष्क मरुस्थल से लेकर अत्यधिक वर्षा वाले पूर्वोत्तर क्षेत्र और विशाल नदी-मैदान से लेकर पठारी भूभाग तक अत्यंत विविध भू-सांस्कृतिक क्षेत्र हैं। भारत सरकार के पृथ्वी विज्ञान मंत्रालय के आकलन में भी भारत में दीर्घकालीन तापमान वृद्धि, मानसूनी वर्षा के स्वरूप में परिवर्तन तथा अधिक तीव्र वर्षा और अन्य चरम घटनाओं से जुड़े जोखिमों का उल्लेख किया गया है।

इसलिए जलवायु परिवर्तन के भविष्य को केवल “कितना तापमान बढ़ेगा?” के प्रश्न से नहीं समझा जा सकता। अधिक व्यापक प्रश्न यह है—
“बदलती जलवायु के साथ भारत के विभिन्न भू-सांस्कृतिक क्षेत्र किस प्रकार बदलेंगे, और वे स्वयं को किस प्रकार अनुकूलित करेंगे?”

यहीं से भाग–७ की अवधारणा प्रारंभ होती है।

अध्याय-24
बदलती जलवायु, बदलती संस्कृति

24.1 जलवायु केवल मौसम नहीं, जीवन की पृष्ठभूमि है

मौसम किसी दिन या किसी मौसम की स्थिति है, जबकि जलवायु किसी क्षेत्र में लंबे समय तक रहने वाले मौसमीय पैटर्न की व्यापक तस्वीर प्रस्तुत करती है। मानव सभ्यताओं ने अपने जीवन-तंत्र को इन्हीं दीर्घकालीन प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुरूप विकसित किया है। इसलिए जलवायु में दीर्घकालीन परिवर्तन होने पर मानव जीवन के अनेक स्थापित पैटर्न प्रभावित हो सकते हैं।

भारत की कृषि इसका सबसे सरल उदाहरण है। किसान ने सदियों के अनुभव से यह समझ विकसित की कि वर्षा कब आने की संभावना रहती है, किस समय खेत तैयार करना है, कौन-सी फसल किस मौसम में बोनी है और किस फसल को कितने पानी की आवश्यकता है। जब वर्षा के आगमन, वितरण या तीव्रता में परिवर्तन होता है, तो कृषि कैलेंडर पर भी उसका प्रभाव पड़ सकता है।

इस प्रकार—
जलवायु बदलती है → कृषि कैलेंडर बदलता है → फसल प्रणाली बदलती है → आजीविका बदलती है → सामाजिक संबंध बदलते हैं → संस्कृति का स्वरूप बदल सकता है।

यही कारण है कि जलवायु परिवर्तन को भू-सांस्कृतिक परिवर्तन के रूप में देखना आवश्यक है।

24.2 जब वर्षा का समय बदलता है

भारत की कृषि और ग्रामीण संस्कृति लंबे समय से मानसूनी चक्र से जुड़ी रही है। वर्षा की मात्रा के साथ-साथ उसका **समय, वितरण और तीव्रता** भी महत्त्वपूर्ण है। यदि कुल वर्षा लगभग समान रहे, लेकिन वह कम दिनों में

अत्यधिक मात्रा में हो जाए और लंबे शुष्क अंतराल के साथ आए, तो उसका कृषि और जल-संचयन पर प्रभाव अलग होगा।

पृथ्वी विज्ञान मंत्रालय के प्रकाशित भारतीय जलवायु आकलन में 1951–2015 के दौरान भारत के औसत ग्रीष्म मानसून वर्षण में लगभग 6% कमी तथा हाल के दशकों में अधिक बार सूखे अंतराल और अधिक तीव्र वर्षा-अंतराल की प्रवृत्ति का उल्लेख किया गया है; भविष्य के अनुमानों में वर्षा की परिवर्तनशीलता और अत्यधिक दैनिक वर्षा की घटनाओं में वृद्धि की संभावना भी बताई गई है।

ऐसी परिस्थिति में किसान के लिए प्रश्न केवल "कितनी बारिश होगी?" का नहीं रहता। प्रश्न यह हो जाता है कि **बारिश कब होगी, कितने समय तक होगी और खेत तथा जल-संरचनाएँ उस पानी को कितना रोक पाएँगी।**
यहीं पारंपरिक जल-संरचनाओं का महत्त्व फिर सामने आता है। जोहड़, तालाब, आहर-पाइन, कुएँ, बावड़ियाँ और स्थानीय जलागम प्रणालियाँ वर्षा के समय को स्थानीय जल-सुरक्षा में बदलने की क्षमता रख सकती हैं—यदि उनका पुनर्जीवन स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप किया जाए।

24.3 जलवायु परिवर्तन और कृषि-संस्कृति

कृषि केवल अर्थव्यवस्था नहीं है; वह संस्कृति का आधार भी है। भारत के अनेक पर्व कृषि-चक्र से जुड़े हैं। बोआई, फसल पकने, कटाई और नई उपज के अवसरों पर विभिन्न क्षेत्रों में त्योहार और सामुदायिक आयोजन विकसित हुए हैं।

यदि किसी क्षेत्र में फसल का समय बदलता है तो उसके साथ जुड़े सामाजिक कैलेंडर में भी परिवर्तन आ सकता है। पारंपरिक कृषि-उत्सवों का समय, स्थानीय भोजन की उपलब्धता, पशुधन प्रबंधन और सामुदायिक श्रम की व्यवस्था प्रभावित हो सकती है।

उदाहरण के लिए यदि किसी क्षेत्र में तापमान बढ़ने या वर्षा के बदलते स्वरूप के कारण पारंपरिक फसल की उत्पादकता घटती है और किसान नई फसल अपनाते हैं, तो धीरे-धीरे स्थानीय भोजन में परिवर्तन आ सकता है। नई

फसल के साथ नई बाजार व्यवस्था, नई कृषि तकनीक और नई आर्थिक प्राथमिकताएँ भी आ सकती हैं।

इसलिए **फसल परिवर्तन केवल कृषि परिवर्तन नहीं है; वह सांस्कृतिक परिवर्तन भी हो सकता है।**

24.4 जलवायु और स्थानीय आजीविका

भारत के अनेक भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों में आजीविका एक ही स्रोत पर निर्भर नहीं रही है। कृषि के साथ पशुपालन, वनोपज, मत्स्य पालन, हस्तशिल्प, छोटे व्यापार और मौसमी श्रम जुड़े रहे हैं। यह विविधता स्वयं में जोखिम प्रबंधन की एक पारंपरिक रणनीति रही है।

यदि सूखा बढ़ता है तो कृषि प्रभावित हो सकती है। यदि वन उत्पादों की उपलब्धता बदलती है तो वन-आधारित समुदाय प्रभावित हो सकते हैं। यदि नदी का प्रवाह बदलता है तो मछली पालन और नदी-आधारित आजीविका प्रभावित हो सकती है। यदि अत्यधिक गर्मी बढ़ती है तो खुले वातावरण में काम करने वाले श्रमिकों की कार्यक्षमता और स्वास्थ्य-संबंधी जोखिम बढ़ सकते हैं।

इसलिए जलवायु अनुकूलन में **आजीविका का विविधीकरण** महत्त्वपूर्ण हो सकता है। जलवायु-सहिष्णु कृषि, पशुधन प्रबंधन, स्थानीय प्रसंस्करण, हस्तशिल्प, गैर-कृषि रोजगार और पारिस्थितिकी-आधारित आजीविका के विकल्प स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार विकसित किए जा सकते हैं।

24.5 जलवायु परिवर्तन और प्रवासन

जब किसी क्षेत्र में लगातार जल-संकट, कृषि जोखिम या प्राकृतिक आपदाओं की परिस्थितियाँ बढ़ती हैं, तो कुछ परिवार मौसमी या स्थायी रूप से दूसरे क्षेत्रों की ओर जा सकते हैं। प्रवासन केवल जनसंख्या का स्थानांतरण नहीं है; इससे सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना भी बदल सकती है।
गाँव से युवाओं के शहरों की ओर जाने से पारंपरिक कृषि ज्ञान की पीढ़ीगत निरंतरता प्रभावित हो सकती है। दूसरी ओर, प्रवासी परिवारों द्वारा भेजी गई आय ग्रामीण अर्थव्यवस्था को सहारा भी दे सकती है। इसलिए प्रवासन को केवल नकारात्मक या सकारात्मक घटना के रूप में देखने के बजाय उसे

जलवायु, आजीविका और सामाजिक परिवर्तन के जटिल संबंध के रूप में समझना चाहिए।

भू-सांस्कृतिक मानचित्र में इसलिए "प्रवासन दबाव" को भी एक संभावित संकेतक के रूप में दर्ज किया जा सकता है।

24.6 जलवायु परिवर्तन और लोकज्ञान

स्थानीय समुदायों ने मौसम के संकेतों को समझने के लिए अनेक पारंपरिक तरीके विकसित किए हैं। पक्षियों और पशुओं के व्यवहार, बादलों के स्वरूप, हवा की दिशा, मिट्टी की नमी और स्थानीय वनस्पतियों में परिवर्तन जैसे संकेतों का उपयोग मौसम के अनुमान में किया जाता रहा है।

ऐसे पारंपरिक ज्ञान को न तो बिना परीक्षण के वैज्ञानिक पूर्वानुमान मानना चाहिए और न ही उसे केवल अंधविश्वास कहकर समाप्त कर देना चाहिए। इसे **स्थानीय पर्यावरणीय अवलोकन** के रूप में दस्तावेजीकृत करके आधुनिक मौसम विज्ञान और जलवायु विज्ञान के साथ परीक्षण किया जा सकता है।
इस दिशा में एक नया शोध क्षेत्र विकसित हो सकता है—**"लोक जलवायु ज्ञान"**।

यदि किसी क्षेत्र के बुजुर्ग किसान पिछले 40–50 वर्षों में वर्षा, तापमान, फसल और नदी के व्यवहार में हुए परिवर्तनों का मौखिक इतिहास दर्ज करें और उसे मौसम संबंधी उपलब्ध आंकड़ों से तुलना की जाए, तो स्थानीय जलवायु परिवर्तन की सामाजिक स्मृति का एक महत्त्वपूर्ण अभिलेख तैयार हो सकता है।

24.7 बदलती जलवायु और सांस्कृतिक विरासत

जलवायु परिवर्तन का प्रभाव केवल प्राकृतिक पर्यावरण, वनस्पतियों, जीव-जंतुओं और मानव समुदायों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह ऐतिहासिक भवनों, मंदिरों, घाटों, बावड़ियों, पारंपरिक जल-संरचनाओं तथा मिट्टी के घरों जैसी सांस्कृतिक विरासतों को भी प्रभावित करता है। अत्यधिक वर्षा, बाढ़, तापमान में उतार-चढ़ाव, नमी, सूखा और भूस्खलन जैसी घटनाएँ इन धरोहरों की संरचनात्मक मजबूती और ऐतिहासिक पहचान के लिए चुनौती उत्पन्न कर

सकती हैं। इनके क्षरण से न केवल भौतिक संरचनाओं को नुकसान पहुँचता है, बल्कि उनसे जुड़ी सांस्कृतिक परंपराएँ, स्थानीय स्मृतियाँ और सामुदायिक पहचान भी प्रभावित होती हैं।

भारतीय पारंपरिक वास्तुकला में स्थानीय जलवायु और भौगोलिक परिस्थितियों के अनुरूप अनेक उपयोगी समाधान विकसित हुए हैं। मोटी मिट्टी की दीवारें, आँगन, छायादार वृक्ष, प्राकृतिक वेंटिलेशन, स्थानीय निर्माण सामग्री और वर्षा-जल संचयन की व्यवस्थाएँ इसके प्रमुख उदाहरण हैं। ये तकनीकें तापमान को संतुलित रखने, जल-संसाधनों का संरक्षण करने और प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुरूप जीवन-शैली विकसित करने में सहायक रही हैं। पारंपरिक बावड़ियाँ, तालाब और कुएँ जल-संचयन के साथ-साथ सामाजिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों के महत्वपूर्ण केंद्र भी रहे हैं।

भविष्य में सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण के लिए पारंपरिक ज्ञान और आधुनिक विज्ञान का समन्वय आवश्यक है। वैज्ञानिक निगरानी, उचित मरम्मत तकनीकों, प्रभावी जल-निकासी, स्थानीय निर्माण सामग्री और समुदायों की सक्रिय भागीदारी से इन धरोहरों को जलवायु संबंधी जोखिमों से सुरक्षित रखा जा सकता है। साथ ही, पारंपरिक वास्तुकला के उपयोगी सिद्धांतों को आधुनिक निर्माण में अपनाकर ऊर्जा-कुशल, टिकाऊ और पर्यावरण-अनुकूल आवास विकसित किए जा सकते हैं।

भू-सांस्कृतिक दृष्टिकोण के अंतर्गत सांस्कृतिक विरासत को उसके प्राकृतिक परिवेश, स्थानीय आजीविका और सामुदायिक जीवन से जोड़कर देखना आवश्यक है। इससे संरक्षण की प्रक्रिया केवल ऐतिहासिक संरचनाओं तक सीमित न रहकर संपूर्ण क्षेत्र के पर्यावरणीय संतुलन और सांस्कृतिक निरंतरता को मजबूत बनाती है।

इस प्रकार सांस्कृतिक विरासत का संरक्षण केवल अतीत की धरोहरों को सुरक्षित रखना नहीं, बल्कि पारंपरिक ज्ञान को पुनर्जीवित करना, प्रकृति का पुनर्जनन, स्थानीय आजीविका का संवर्धन, समुदायों का सशक्तीकरण और भावी पीढ़ियों के लिए जलवायु-अनुकूल विकास का मार्ग प्रशस्त करना भी है।

24.8 जलवायु परिवर्तन : एक भू-सांस्कृतिक श्रृंखला

इस अध्याय की केंद्रीय अवधारणा को एक श्रृंखला में इस प्रकार समझा जा सकता है—

जलवायु परिवर्तन

↓

वर्षा और तापमान में परिवर्तन

↓

जल उपलब्धता में परिवर्तन

↓

कृषि एवं पशुपालन में परिवर्तन

↓

आजीविका में परिवर्तन

↓

प्रवास एवं सामाजिक संरचना में परिवर्तन

↓

भोजन, परंपरा और लोकज्ञान में परिवर्तन

↓

भू-सांस्कृतिक पहचान में परिवर्तन

यह श्रृंखला यह स्पष्ट करती है कि जलवायु परिवर्तन केवल वातावरण की समस्या नहीं है। वह **समाज और संस्कृति की परिवर्तनशीलता का भी प्रश्न है।**

अध्याय-25
जलवायु अनुकूलन

यदि जलवायु परिवर्तन को रोका जाना दीर्घकालीन वैश्विक प्रयास का विषय है, तो वर्तमान और निकट भविष्य में उसके प्रभावों के साथ समाज को अनुकूलित करना भी आवश्यक है। यही **जलवायु अनुकूलन (Climate Adaptation)** है।

अनुकूलन का अर्थ जलवायु परिवर्तन के सामने केवल प्रतिक्रिया देना नहीं, बल्कि जोखिम को पहले से समझना, स्थानीय क्षमता को मजबूत करना और ऐसी प्रणालियाँ विकसित करना है जो बदलती परिस्थितियों में भी काम करती रहें।

जलवायु परिवर्तन पर अंतर-सरकारी पैनल (IPCC) के अनुसार जलवायु जोखिमों को कम करने के लिए कृषि, आजीविका, शासन, तकनीक, शिक्षा और आर्थिक तंत्रों को एकीकृत करना आवश्यक हो सकता है। IPCC यह भी रेखांकित करता है कि स्थानीय रूप से उपयुक्त कृषि-पारिस्थितिक पद्धतियाँ आजीविका की लचीलापन क्षमता बढ़ाने में योगदान दे सकती हैं और कुछ परिस्थितियों में अनुकूलन तथा शमन दोनों के सह-लाभ दे सकती हैं।

25.1 भू-सांस्कृतिक अनुकूलन की अवधारणा

सामान्य जलवायु-अनुकूलन योजनाएँ कभी-कभी बड़े प्रशासनिक क्षेत्रों के आधार पर बनाई जाती हैं। लेकिन जलवायु का प्रभाव प्रशासनिक सीमा के अनुसार नहीं बदलता। एक नदी घाटी कई जिलों और राज्यों से गुजर सकती है। एक पर्वतीय पारिस्थितिकी तंत्र अनेक प्रशासनिक इकाइयों में फैला हो सकता है।

इसलिए इस पुस्तक में प्रस्तावित **भू-सांस्कृतिक क्षेत्र** जलवायु अनुकूलन के लिए एक उपयोगी मध्यवर्ती इकाई बन सकते हैं।

यहाँ तीन स्तरों को जोड़ा जा सकता है—

राष्ट्रीय/क्षेत्रीय जलवायु विज्ञान→ व्यापक जलवायु प्रवृत्तियाँ और भविष्य के अनुमान।
भू-सांस्कृतिक क्षेत्र→ स्थानीय भूगोल, जल, कृषि, संस्कृति और जोखिम।
ग्राम/समुदाय→ वास्तविक निर्णय, स्थानीय अनुकूलन और क्रियान्वयन।

इस त्रिस्तरीय व्यवस्था से वैज्ञानिक जानकारी स्थानीय कार्रवाई में परिवर्तित की जा सकती है।

25.2 जलवायु अनुकूलन (Climate Adaptation) का पहला आधार — जल सुरक्षा

जलवायु परिवर्तन के संदर्भ में जल-सुरक्षा सबसे महत्त्वपूर्ण अनुकूलन उपायों में से एक हो सकती है। वर्षा की अनिश्चितता बढ़ने पर स्थानीय जल-संचयन, जलागम संरक्षण और भूजल पुनर्भरण की भूमिका बढ़ जाती है।

इसका अर्थ बड़े जलाशयों का विरोध करना नहीं, बल्कि **बहु-स्तरीय जल सुरक्षा** विकसित करना है। बड़े जल संसाधनों के साथ छोटे तालाब, कुएँ, जोहड़, खेत-तालाब, नालों का उपचार, आर्द्रभूमि और स्थानीय जल-स्रोत एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं।

प्रत्येक भू-सांस्कृतिक क्षेत्र के लिए एक **स्थानीय जल बजट** तैयार किया जा सकता है—कितनी वर्षा होती है, कितना पानी सतही प्रवाह में जाता है, कितना भूमि में समाता है, कितना कृषि में उपयोग होता है और कितना घरेलू या औद्योगिक उपयोग में जाता है।

इस प्रकार जलवायु अनुकूलन का पहला प्रश्न होगा—
"बदलती वर्षा को स्थानीय जल-सुरक्षा में कैसे बदला जाए?"

25.3 जलवायु-स्मार्ट कृषि

जलवायु परिवर्तन के संदर्भ में कृषि को अधिक लचीला बनाने के लिए स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार फसल विविधीकरण, जल-कुशल सिंचाई, मृदा संरक्षण, स्थानीय/अनुकूलित बीज, कृषि-वनीकरण, फसल अवशेष प्रबंधन और मौसम आधारित कृषि सलाह जैसे उपायों का उपयोग किया जा सकता है।

IPCC ने कृषि में जलवायु-स्मार्ट कृषि, कृषि-पारिस्थितिकी, संरक्षण कृषि और कृषि-वानिकी जैसी पद्धतियों में अनुकूलन, खाद्य सुरक्षा और कुछ परिस्थितियों में उत्सर्जन-न्यूनता के बीच संभावित सह-लाभों का उल्लेख किया है। साथ ही IPCC यह भी स्पष्ट करता है कि इन उपायों की प्रभावशीलता स्थानीय सामाजिक, आर्थिक और संस्थागत परिस्थितियों पर निर्भर करती है।
भू-सांस्कृतिक दृष्टि से इसका अर्थ है कि हर क्षेत्र की कृषि रणनीति अलग हो सकती है।

शुष्क क्षेत्र में कम पानी वाली फसलें और जल-संचयन अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं। बाढ़-प्रवण क्षेत्र में जलभराव-सहिष्णु कृषि और फसल विविधीकरण उपयोगी हो सकते हैं। पहाड़ी क्षेत्र में सीढ़ीदार खेती, मृदा संरक्षण और कृषि-वनीकरण का महत्त्व बढ़ सकता है।

25.4 स्थानीय बीज और जैव-विविधता

जलवायु परिवर्तन के दौर में जैव-विविधता केवल संरक्षण का विषय नहीं, बल्कि अनुकूलन की क्षमता भी हो सकती है। विविध फसलें, स्थानीय बीज, मिश्रित कृषि और कृषि-वनीकरण प्रणालियाँ किसी एक फसल पर निर्भरता को कम कर सकती हैं।

यदि एक फसल किसी विशेष वर्षा या तापमान परिस्थिति में विफल होती है, तो दूसरी फसल या कृषि घटक कुछ जोखिम को कम कर सकता है। इसलिए स्थानीय बीजों और पारंपरिक कृषि विविधता का दस्तावेजीकरण भू-सांस्कृतिक संरक्षण का महत्त्वपूर्ण हिस्सा होना चाहिए।
यहाँ किसान केवल "लाभार्थी" नहीं, बल्कि **स्थानीय कृषि-जैव विविधता के संरक्षक** भी हैं।

25.5 जलवायु लचीलापन: केवल संकट से बचना नहीं

लचीलापन **(Resilience)** या प्रत्यास्थता का अर्थ किसी समुदाय, पारिस्थितिकी तंत्र या अर्थव्यवस्था की ऐसी क्षमता से है जिससे वह झटकों का सामना करके कार्यशील बना रहे और आवश्यकता पड़ने पर स्वयं को नए रूप में व्यवस्थित कर सके।

भू-सांस्कृतिक लचीलापन के चार प्रमुख आधार माने जा सकते हैं—
प्राकृतिक लचीलापन — जल, मिट्टी, वन, जैव-विविधता और पारिस्थितिक तंत्र की क्षमता।
आर्थिक लचीलापन — विविध आजीविका और स्थानीय आर्थिक अवसर।
सामाजिक लचीलापन — समुदाय, स्थानीय संस्थाएँ और परस्पर सहयोग।
ज्ञानात्मक लचीलापन — लोकज्ञान, वैज्ञानिक ज्ञान और नई तकनीक को अपनाने की क्षमता।

इन चारों को एक साथ मजबूत किए बिना केवल एक क्षेत्र में निवेश दीर्घकालीन जलवायु लचीलापन नहीं बना सकता।

25.6 जलवायु शमन (Climate Mitigation) और भू-सांस्कृतिक क्षेत्र

अनुकूलन के साथ **जलवायु शमन (Mitigation)** भी आवश्यक है। शमन का उद्देश्य ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन को कम करना या कार्बन अवशोषण बढ़ाना है।

भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों में शमन के कई स्थानीय अवसर हो सकते हैं। कृषि-वनीकरण, स्थानीय जैव-विविधता संरक्षण, मिट्टी में कार्बन का संरक्षण, नवीकरणीय ऊर्जा, ऊर्जा-कुशल सिंचाई, स्थानीय संसाधनों का सतत उपयोग और परिवहन दूरी कम करने वाली स्थानीय अर्थव्यवस्थाएँ कुछ संभावित दिशाएँ हैं।

लेकिन शमन और अनुकूलन को अलग-अलग योजनाओं में बाँटने के बजाय जहाँ संभव हो, दोनों को एकीकृत करना अधिक उपयोगी हो सकता है।

उदाहरण के लिए कृषि-वनीकरण एक ही समय में—
मिट्टी संरक्षण + जैव-विविधता + आजीविका + कार्बन अवशोषण + स्थानीय जलवायु लचीलापन

जैसे अनेक सह-लाभ प्रदान कर सकता है, यद्यपि इसका वास्तविक प्रभाव स्थान और प्रबंधन पर निर्भर करेगा। IPCC ने भी agroforestry और स्थानीय कृषि-पारिस्थितिकी आधारित दृष्टिकोण (agro-ecological

approaches) को अनुकूलन तथा कुछ परिस्थितियों में शमन के संभावित सह-लाभों से जोड़ा है।

25.7 जलवायु अनुकूलन में स्थानीय समुदाय

जलवायु अनुकूलन का अंतिम चरण गाँव और समुदाय में होता है। राष्ट्रीय जलवायु मॉडल यह बता सकते हैं कि किसी क्षेत्र में तापमान या वर्षा के पैटर्न में संभावित परिवर्तन क्या हो सकते हैं, लेकिन यह निर्णय कि किसान कौन-सी फसल लगाएगा, गाँव का तालाब कहाँ पुनर्जीवित होगा या पशुपालक किस प्रकार अपने पशुधन का प्रबंधन करेगा—स्थानीय स्तर पर ही लिया जाएगा।

इसलिए जलवायु अनुकूलन में प्रबंधन-नीचे से ऊपर (bottom-up planning**)** महत्त्वपूर्ण है।

एक ग्राम-स्तरीय जलवायु कार्ययोजना में स्थानीय जल स्रोत, कृषि, पशुपालन, स्वास्थ्य, आवास, आपदा जोखिम, आजीविका और सामाजिक रूप से संवेदनशील समूहों को शामिल किया जा सकता है।
इसके ऊपर भू-सांस्कृतिक क्षेत्र की योजना बनाई जा सकती है, जो कई गाँवों को साझा प्राकृतिक संसाधनों—जैसे नदी, जलागम, चरागाह या वन—के आधार पर जोड़ती हो।

25.8 जलवायु सूचना को स्थानीय भाषा में बदलना

जलवायु विज्ञान की सबसे बड़ी चुनौतियों में से एक यह है कि वैज्ञानिक जानकारी अक्सर स्थानीय उपयोगकर्ता तक उस रूप में नहीं पहुँचती जिसमें वह निर्णय ले सके।

किसान को यह जानना अधिक उपयोगी हो सकता है कि अगले दस दिनों में वर्षा की संभावना क्या है, बोआई में देरी करनी चाहिए या नहीं, किस फसल की जल आवश्यकता कितनी है और अत्यधिक गर्मी की स्थिति में क्या सावधानी रखनी चाहिए।

भारत में मौसम-आधारित कृषि सलाह प्रणालियाँ इसी दिशा में काम करती हैं। पृथ्वी विज्ञान मंत्रालय ने भी कृषि-मौसम विज्ञान इकाइयों द्वारा किसानों के लिए नियमित कृषि-मौसम सलाह जारी किए जाने का उल्लेख किया है।

भू-सांस्कृतिक भविष्य में इस व्यवस्था को और स्थानीय बनाया जा सकता है। प्रत्येक क्षेत्र के लिए **स्थानीय भाषा/बोली में जलवायु सूचना** उपलब्ध कराई जा सकती है।

25.9 भू-सांस्कृतिक जलवायु मानचित्र

इस पुस्तक की मूल अवधारणा के आधार पर भविष्य में एक **"राष्ट्रीय भू-सांस्कृतिक जलवायु एटलस"** की कल्पना की जा सकती है। इस एटलस में प्रत्येक क्षेत्र के लिए निम्न सूचनाएँ एक साथ दिखाई जा सकती हैं—
क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति, तापमान की प्रवृत्ति, वर्षा का स्वरूप, सूखा जोखिम, बाढ़ जोखिम, गर्मी की लहरों का जोखिम, जल उपलब्धता, कृषि प्रणाली, प्रमुख फसलें, स्थानीय जल-संरचनाएँ, वन एवं जैव-विविधता, आजीविका, प्रवासन, पारंपरिक ज्ञान और समुदाय की अनुकूलन क्षमता। ऐसा मानचित्र केवल जोखिम नहीं दिखाएगा। वह **स्थानीय क्षमता** भी दिखाएगा।

यानी—
जोखिम मानचित्र + संसाधन मानचित्र + सांस्कृतिक मानचित्र + सामुदायिक मानचित्र + अनुकूलन मानचित्र मिलकर एक नया भू-सांस्कृतिक जलवायु मानचित्र बना सकते हैं।

25.10 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों के लिए जलवायु प्रोफाइल

इस पुस्तक के भाग–४ में प्रस्तावित **86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों** को भविष्य में जलवायु अनुकूलन के संदर्भ में भी प्रोफाइल किया जा सकता है। प्रत्येक क्षेत्र के लिए एक अतिरिक्त जलवायु अध्याय या उपखंड बनाया जा सकता है, जिसमें यह बताया जाए कि—

वर्तमान जलवायु की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं; पिछले दशकों में कौन-से परिवर्तन देखे गए हैं; भविष्य में संभावित जोखिम क्या हैं; जल संसाधनों पर क्या प्रभाव पड़ सकता है; कृषि किस प्रकार प्रभावित हो सकती है; कौन-सी आजीविकाएँ संवेदनशील हैं; स्थानीय समुदाय के पास कौन-से पारंपरिक अनुकूलन उपाय हैं; और किन आधुनिक वैज्ञानिक उपायों से स्थानीय लचीलापन बढ़ाया जा सकता है।

इससे 86 क्षेत्र केवल सांस्कृतिक इकाइयाँ नहीं रहेंगे; वे **जलवायु-अनुकूलन की 86 प्रयोगशालाएँ** भी बन सकते हैं।

25.11 हिमालयी क्षेत्र : जलवायु परिवर्तन का विशेष उदाहरण

भू-सांस्कृतिक दृष्टि से हिमालय एक अत्यंत संवेदनशील क्षेत्र है। यहाँ हिमनद, बर्फ, ऊँचे पर्वतीय जलागम, नदियाँ, झरने, वन, चरागाह, कृषि और पर्वतीय समुदाय एक जटिल प्रणाली बनाते हैं।

हिमालय में तापमान और हिमनदों में परिवर्तन का प्रभाव केवल पर्वतीय गाँवों तक सीमित नहीं रहता। हिमालय से निकलने वाली नदियाँ विशाल मैदानी क्षेत्रों की जल-सुरक्षा, कृषि और अर्थव्यवस्था से जुड़ी हैं। इसलिए हिमालयी जलवायु परिवर्तन को **पर्वत से मैदान तक फैले भू-सांस्कृतिक संबंध** के रूप में देखना आवश्यक है।

यही दृष्टि इस पुस्तक के पूर्ववर्ती हिमालयी अध्ययन से भी जुड़ती है, जिसमें हिमालयी आपदाओं, ग्लेशियर परिवर्तन, भूस्खलन, अचानक बाढ़ और मानव बस्तियों के जोखिम को एकीकृत दृष्टि से देखने की आवश्यकता सामने आती है।

25.12 जलवायु परिवर्तन और आपदा जोखिम

जलवायु परिवर्तन कई प्राकृतिक खतरों की तीव्रता या जोखिम को प्रभावित कर सकता है, हालांकि प्रत्येक घटना को सीधे जलवायु परिवर्तन के कारण के रूप में स्थापित करना वैज्ञानिक रूप से उचित नहीं होगा। किसी आपदा का वास्तविक परिणाम जलवायु, भूगोल, भूमि उपयोग, जनसंख्या, अवसंरचना और सामाजिक संवेदनशीलता के संयुक्त प्रभाव से निर्धारित होता है।

इसलिए भू-सांस्कृतिक जलवायु योजना में आपदा-संकटकारी कारक + जोखिम के संपर्क में आने वाले तत्व + संवेदनशीलता + क्षमता (Hazard + Exposure + Vulnerability + Capacity) को एक साथ देखना चाहिए।

किसी नदी के किनारे रहने वाले गाँव के लिए बाढ़ केवल प्राकृतिक खतरा है; यदि उसी क्षेत्र में बाढ़-मैदान में घनी बस्ती है तो अनावरण **(exposure)**

बढ़ता है; यदि आवास कमजोर हैं तो संवेदनशीलता एवं असुरक्षा **(vulnerability)** बढ़ती है; और यदि समुदाय के पास पूर्व चेतावनी तथा निकासी योजना है तो सामना करने की क्षमता (**coping capacity**) बढ़ती है।

इस प्रकार जलवायु अनुकूलन का उद्देश्य केवल खतरा समाप्त करना नहीं, बल्कि **जोखिम को कम करना और क्षमता बढ़ाना** है।

25.13 भू-सांस्कृतिक पुनर्जनन : भविष्य की नई अवधारणा

जलवायु परिवर्तन के संदर्भ में केवल "अनुकूलन" शब्द पर्याप्त नहीं हो सकता। कुछ क्षेत्रों में हमें **पुनर्जनन (Regeneration)** की दिशा में भी जाना होगा। पुनर्जनन का अर्थ है कि क्षतिग्रस्त जलागम, मिट्टी, वनस्पति, नदी, कृषि और सामाजिक संस्थाओं को इस प्रकार पुनर्जीवित किया जाए कि वे भविष्य के झटकों को बेहतर ढंग से सह सकें।
इस दृष्टि से—
जल संरक्षण → मृदा संरक्षण → जैव-विविधता → कृषि लचीलापन → आजीविका → सामाजिक लचीलापन
एक-दूसरे से जुड़ जाते हैं। यही भू-सांस्कृतिक पुनर्जनन की मूल अवधारणा हो सकती है।

25.14 नई पीढ़ी और भू-सांस्कृतिक भविष्य

जलवायु परिवर्तन की सबसे लंबी अवधि का प्रभाव आने वाली पीढ़ियों पर पड़ेगा। इसलिए बच्चों और युवाओं को केवल जलवायु परिवर्तन के बारे में पढ़ाना पर्याप्त नहीं; उन्हें अपने स्थानीय भूगोल से जोड़ना भी आवश्यक है।

एक विद्यार्थी यदि अपने गाँव के तालाब का इतिहास जानता है, स्थानीय नदी का जलागम समझता है, स्थानीय फसलों की विविधता पहचानता है और अपने क्षेत्र के मौसम संबंधी आंकड़े दर्ज करता है, तो वह जलवायु परिवर्तन को केवल पाठ्यपुस्तक की अवधारणा के रूप में नहीं, बल्कि अपने जीवन के हिस्से के रूप में समझेगा।

इसलिए प्रत्येक भू-सांस्कृतिक क्षेत्र में स्थानीय जलवायु ज्ञान केंद्र **(Local Climate Knowledge Centre)** या विद्यालय-आधारित "भू-सांस्कृतिक प्रयोगशाला" जैसी अवधारणाओं पर विचार किया जा सकता है।

25.15 भाग–७ का समेकित मॉडल

इस भाग की पूरी अवधारणा को एक समेकित श्रृंखला में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

जलवायु परिवर्तन

↓

जल, तापमान और वर्षा में परिवर्तन

↓

कृषि एवं पारिस्थितिकी पर प्रभाव

↓

आजीविका और सामाजिक संरचना में परिवर्तन

↓

सांस्कृतिक अनुकूलन

↓

स्थानीय ज्ञान + आधुनिक विज्ञान

↓

जलवायु अनुकूलन

↓

जलवायु परिवर्तन का शमन

↓

सामुदायिक प्रत्यास्थता (संकटों से उबरने की क्षमता)

↓

प्रकृति-आधारित पुनर्जनन

↓

भू-सांस्कृतिक भविष्य

25.16 निष्कर्ष : बदलती जलवायु में जीवित संस्कृति का प्रश्न

भाग–७ का मूल संदेश यह है कि **जलवायु परिवर्तन को केवल तापमान की समस्या के रूप में देखना अधूरा है।** जलवायु परिवर्तन प्राकृतिक प्रणालियों के साथ-साथ उन सामाजिक और सांस्कृतिक प्रणालियों को भी प्रभावित कर सकता है जो सदियों से विशिष्ट जलवायु और भूगोल के अनुरूप विकसित हुई हैं।

- जब वर्षा का समय बदलता है, तो खेती बदलती है।
- जब खेती बदलती है, तो आजीविका बदलती है।
- जब आजीविका बदलती है, तो प्रवासन और सामाजिक संबंध बदल सकते हैं।
- जब सामाजिक संबंध बदलते हैं, तो लोकज्ञान और परंपराओं का स्वरूप बदल सकता है, और
- जब लोकज्ञान तथा जीवन-शैली बदलती है, तो **भू-सांस्कृतिक पहचान भी परिवर्तन के दौर में प्रवेश करती है।**

लेकिन यह परिवर्तन केवल संकट की कहानी नहीं है। यह **अनुकूलन, नवाचार और पुनर्जनन की संभावना** भी प्रस्तुत करता है।

भारत की पारंपरिक जल-संरचनाएँ, स्थानीय कृषि प्रणालियाँ, जैव-विविधता, सामुदायिक संस्थाएँ और पीढ़ियों से संचित लोकज्ञान जलवायु परिवर्तन के प्रभावों से निपटने तथा स्थानीय स्तर पर अनुकूलन क्षमता विकसित करने के महत्वपूर्ण आधार प्रदान कर सकते हैं। तालाब, कुएँ, बावड़ियाँ, पारंपरिक सिंचाई प्रणालियाँ और वर्षा-जल संचयन की विधियाँ जल-सुरक्षा को मजबूत कर सकती हैं। इसी प्रकार स्थानीय बीज, फसल विविधीकरण, कृषि-वानिकी और प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित आजीविका बदलती जलवायु के प्रति किसानों की अनुकूलन क्षमता बढ़ाने में सहायक हो सकती हैं। आधुनिक जलवायु विज्ञान, मौसम पूर्वानुमान, रिमोट सेंसिंग, GIS, जल-विज्ञान, कृषि विज्ञान और डिजिटल तकनीक इन स्थानीय क्षमताओं को वैज्ञानिक सूचना, सटीक आकलन तथा निरंतर निगरानी के माध्यम से और अधिक प्रभावी बना सकते हैं।

इसलिए भविष्य का रास्ता केवल—
'परंपरा बनाम आधुनिकता'
नहीं, बल्कि—
'लोकज्ञान + आधुनिक विज्ञान + स्थानीय समुदाय + भूगोल + जलवायु विज्ञान'
के समन्वय पर आधारित हो सकता है। इस समन्वित दृष्टिकोण में पारंपरिक अनुभवों को वैज्ञानिक प्रमाणों के साथ समझना, स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप समाधान विकसित करना और समुदायों को निर्णय-प्रक्रिया में

सक्रिय भागीदार बनाना आवश्यक है। इससे न केवल प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण संभव होगा, बल्कि स्थानीय आजीविका, सामाजिक सहयोग और आपदाओं से निपटने की सामुदायिक क्षमता को भी मजबूत किया जा सकेगा।

इसी दृष्टि से इस पुस्तक का भू-सांस्कृतिक मानचित्र भविष्य में एक जलवायु-लचीलापन मानचित्र (Climate Resilience Map) के रूप में विकसित हो सकता है। ऐसा मानचित्र केवल यह नहीं बताएगा कि किसी क्षेत्र में बाढ़, सूखा, अत्यधिक गर्मी, भूस्खलन या जल-संकट जैसी कौन-सी चुनौतियाँ मौजूद हैं, बल्कि यह भी स्पष्ट करेगा कि वहाँ कौन-से प्राकृतिक संसाधन सुरक्षित हैं, कौन-सी पारंपरिक प्रणालियाँ अभी सक्रिय हैं, क्या पुनर्जीवित किया जा सकता है और स्थानीय समुदायों के पास कौन-सा उपयोगी ज्ञान उपलब्ध है। इसके साथ यह पहचानना भी आवश्यक होगा कि किन क्षेत्रों में अतिरिक्त संसाधनों, तकनीकी सहायता, प्रशिक्षण और संस्थागत सहयोग की जरूरत है। इस प्रकार प्रत्येक भू-सांस्कृतिक क्षेत्र के लिए उसकी विशिष्ट भौगोलिक परिस्थितियों, सांस्कृतिक परंपराओं और सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप अनुकूलन की रणनीतियाँ विकसित की जा सकती हैं।

यह मानचित्र भविष्य में जोखिम मानचित्र, संसाधन मानचित्र, सांस्कृतिक मानचित्र, सामुदायिक मानचित्र और अनुकूलन मानचित्र को एकीकृत करने का आधार भी बन सकता है। इसके माध्यम से स्थानीय प्रशासन, शोधकर्ता, नीति-निर्माता और समुदाय जलवायु संबंधी जोखिमों की पहचान करने के साथ-साथ उपलब्ध क्षमताओं का आकलन कर सकेंगे। समय-समय पर अद्यतन की जाने वाली डिजिटल सूचनाएँ यह समझने में सहायता कर सकती हैं कि किन क्षेत्रों में संरक्षण के प्रयास सफल हो रहे हैं, कहाँ नई चुनौतियाँ उभर रही हैं और किन पारंपरिक ज्ञान-प्रणालियों को पुनर्जीवित करने की आवश्यकता है। इस प्रकार भू-सांस्कृतिक मानचित्र केवल भौगोलिक जानकारी का संग्रह न रहकर जलवायु-अनुकूल विकास, स्थानीय नियोजन और सामुदायिक सशक्तीकरण का एक उपयोगी साधन बन सकता है।

अंततः, भू-सांस्कृतिक भविष्य का प्रश्न यह नहीं है कि जलवायु बदलेगी या नहीं, बल्कि यह है कि हम इन परिवर्तनों के प्रति कितनी तैयारी, समझ और सामूहिक क्षमता विकसित कर पाते हैं। जलवायु में परिवर्तन पहले से हो रहा

है और भविष्य में उसके स्वरूप, तीव्रता तथा क्षेत्रीय प्रभावों को लेकर अनिश्चितताएँ बनी रहेंगी। ऐसी परिस्थितियों में स्थानीय ज्ञान का संरक्षण, वैज्ञानिक जानकारी का प्रभावी उपयोग, प्राकृतिक संसाधनों का पुनर्जनन और समुदायों की सक्रिय भागीदारी अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाते हैं। भू-सांस्कृतिक दृष्टिकोण हमें यह समझने का अवसर देता है कि भविष्य की सुरक्षा केवल संकटों को कम करने में नहीं, बल्कि प्रकृति, संस्कृति और समुदाय के बीच संतुलित संबंधों को पुनर्जीवित करने में भी निहित है।

अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि—
बदलती जलवायु के बीच हम अपने जल, मिट्टी, वन, कृषि, संस्कृति और समुदायों को किस प्रकार इतना लचीला बनाएँ कि वे केवल संकट का सामना न करें, बल्कि नए पर्यावरणीय भविष्य में भी जीवंत और टिकाऊ बने रहें?

और इसी प्रश्न का उत्तर इस पुस्तक की मूल अवधारणा में निहित है—
भूगोल को समझिए → संस्कृति को पहचानिए → जलवायु जोखिम को समझिए → समुदाय को जोड़िए → प्रकृति को पुनर्जीवित कीजिए → भविष्य को लचीला बनाइए।

यही **भू-सांस्कृतिक भविष्य** की आधारभूमि है।

भाग–८:
भविष्य का भारत

भविष्य का भारत

भू-सांस्कृतिक नियोजन, स्थानीय ज्ञान और पुनर्जनन आधारित विकास की ओर

भारत का भविष्य केवल आर्थिक विकास की गति से निर्धारित नहीं होगा। यह इस बात पर भी निर्भर करेगा कि विकास की प्रक्रिया **भूमि, जल, वन, कृषि, जैव-विविधता, संस्कृति और समुदाय** के साथ किस प्रकार संबंध स्थापित करती है। एक ऐसा भारत, जहाँ आर्थिक प्रगति हो लेकिन भूजल समाप्त होता जाए, नदियाँ प्रदूषित हों, मिट्टी की उर्वरता घटती जाए, स्थानीय बीज और लोकज्ञान समाप्त होते जाएँ तथा गाँवों से निरंतर पलायन हो—उसे दीर्घकालीन अर्थ में समृद्ध भारत नहीं कहा जा सकता। भविष्य का भारत वह होगा जिसमें विकास की दिशा स्थानीय भूगोल और स्थानीय समाज की वास्तविकताओं को समझकर निर्धारित की जाए। यही इस पुस्तक की **भू-सांस्कृतिक दृष्टि** का अंतिम और सबसे व्यापक उद्देश्य है।

यदि भाग–१ में भारत को केवल राजनीतिक मानचित्र से आगे जाकर समझने की आवश्यकता सामने रखी गई, भाग–२ में "15 → 50 → 86" के माध्यम से भारत की प्राकृतिक और सांस्कृतिक विविधता को व्यवस्थित करने का प्रयास किया गया, भाग–३ में भू-सांस्कृतिक मानचित्र के सात आयामों को समझाया गया, भाग–४ में 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों को पहचानने की दिशा प्रस्तुत की गई, भाग–५ में संरक्षण की ओर यात्रा और भाग–६में तरुण भारत संघ के अनुभव को एक जीवंत उदाहरण के रूप में देखा गया, जबकि भाग–७ में जलवायु परिवर्तन के संदर्भ में भू-सांस्कृतिक भविष्य पर विचार किया गया—तो भाग–८ इस पूरी यात्रा को **भविष्य के विकास-दर्शन** में परिवर्तित करता है।

इस भाग का मूल प्रश्न है—

क्या भारत अपने विकास को अपनी भौगोलिक विविधता, सांस्कृतिक बहुलता और स्थानीय सामुदायिक ज्ञान के अनुरूप पुनर्गठित कर सकता है?

इसका उत्तर केवल योजनाओं और नीतियों में नहीं, बल्कि विकास की सोच में परिवर्तन में निहित है।

अध्याय-26
भू-सांस्कृतिक नियोजन

26.1 नियोजन की नई इकाई की आवश्यकता

आधुनिक विकास-नियोजन प्रायः प्रशासनिक सीमाओं के आधार पर संगठित होता है। राज्य, मंडल, जिला, तहसील, विकासखंड और ग्राम पंचायत प्रशासन के लिए आवश्यक इकाइयाँ हैं। लेकिन प्रकृति इन सीमाओं का पालन नहीं करती। नदी जिला सीमा देखकर नहीं बहती, भूजल तहसील की सीमा पर नहीं रुकता, पर्वत प्रशासनिक रेखाओं से विभाजित नहीं होते और वन-पारिस्थितिकी भी किसी राज्य की राजनीतिक सीमा तक सीमित नहीं रहती। इसी प्रकार संस्कृति भी प्रशासनिक सीमाओं से अधिक जटिल होती है। एक ही बोली कई जिलों में बोली जा सकती है, एक ही नदी से जुड़े गाँव अलग-अलग प्रशासनिक इकाइयों में हो सकते हैं और एक ही कृषि-पद्धति कई क्षेत्रों में फैली हो सकती है।

इसलिए भविष्य के भारत के लिए प्रशासनिक नियोजन को समाप्त करने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि उसके साथ एक **भू-सांस्कृतिक नियोजन परत** जोड़ने की आवश्यकता हो सकती है।

यह नियोजन पूछेगा—

- **यह क्षेत्र भौगोलिक रूप से क्या है?**
- **यहाँ जल कहाँ से आता है?**
- **भूमि की प्रकृति क्या है?**
- **कौन-सी कृषि उपयुक्त है?**
- **कौन-सी जैव-विविधता महत्त्वपूर्ण है?**
- **लोगों की पारंपरिक आजीविका क्या है?**
- **स्थानीय संस्कृति किन प्राकृतिक परिस्थितियों से जुड़ी है? और**
- **जलवायु परिवर्तन इस पूरे तंत्र को किस प्रकार प्रभावित कर रहा है?**

इन प्रश्नों के उत्तर विकास की दिशा निर्धारित करने में सहायक हो सकते हैं।

26.2 प्रशासनिक क्षेत्र और भू-सांस्कृतिक क्षेत्र का सह-अस्तित्व

भू-सांस्कृतिक नियोजन का अर्थ प्रशासनिक व्यवस्था को बदलना नहीं है। दोनों की भूमिकाएँ अलग हो सकती हैं।

प्रशासनिक इकाइयाँ शासन, कानून, बजट और सेवा-प्रदान के लिए आवश्यक हैं, जबकि भू-सांस्कृतिक इकाइयाँ प्राकृतिक संसाधनों, स्थानीय अर्थव्यवस्था, पारिस्थितिकी और संस्कृति के संबंधों को समझने में सहायता कर सकती हैं।

उदाहरण के लिए किसी नदी घाटी में कई जिले हो सकते हैं। प्रत्येक जिला अपने स्तर पर सड़क, शिक्षा, स्वास्थ्य और प्रशासनिक योजनाएँ बना सकता है, लेकिन नदी के जलागम, प्रदूषण, बाढ़-मैदान और जल-सुरक्षा की योजना नदी-घाटी के स्तर पर अधिक प्रभावी ढंग से देखी जा सकती है।

इसलिए भविष्य का नियोजन **बहु-स्तरीय नियोजन** हो सकता है—
राष्ट्र → राज्य → प्रशासनिक क्षेत्र → भू-सांस्कृतिक क्षेत्र → जलागम → ग्राम।
इन सभी स्तरों के बीच सूचना और निर्णय का संबंध स्थापित किया जा सकता है।

26.3 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्र : नियोजन की संभावित इकाइयाँ

इस पुस्तक में प्रस्तावित 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों को प्रशासनिक पुनर्गठन के रूप में नहीं, बल्कि **विश्लेषण और संरक्षण की संभावित इकाइयों** के रूप में समझना अधिक उपयुक्त होगा।

प्रत्येक क्षेत्र का एक अलग भू-सांस्कृतिक प्रोफाइल हो सकता है। इसमें भूमि, जल, मिट्टी, जलवायु, कृषि, वन, जैव-विविधता, आजीविका, भाषा, भोजन, लोकज्ञान और पर्यावरणीय चुनौतियों को एक साथ दर्ज किया जा सकता है।

फिर प्रत्येक क्षेत्र के लिए "भू-सांस्कृतिक विकास योजना" बनाई जा सकती है।

ऐसी योजना में सड़क या भवन निर्माण के साथ-साथ यह भी पूछा जाएगा कि नई परियोजना का जलागम पर क्या प्रभाव होगा, भूजल पर क्या प्रभाव होगा, कृषि भूमि पर क्या प्रभाव होगा और स्थानीय संस्कृति पर उसका क्या प्रभाव पड़ सकता है। इससे विकास की अवधारणा अधिक समग्र हो सकती है।

26.4 स्थानीय भूगोल के अनुसार विकास

हर क्षेत्र की विकास-क्षमता समान नहीं होती। किसी क्षेत्र में जल पर्याप्त हो सकता है लेकिन भूमि सीमित; किसी क्षेत्र में भूमि विस्तृत हो सकती है लेकिन जल की कमी; किसी क्षेत्र में पर्यटन की क्षमता हो सकती है तो किसी में कृषि-वनीकरण की; किसी क्षेत्र में समुद्री अर्थव्यवस्था की संभावना हो सकती है तो किसी में पर्वतीय जैव-विविधता और औषधीय वनस्पतियों की।

इसलिए "एक ही विकास मॉडल सभी के लिए" की अवधारणा की सीमाएँ स्पष्ट हैं।

भू-सांस्कृतिक नियोजन का सिद्धांत होगा—
"स्थानीय संसाधन और स्थानीय पारिस्थितिकी को समझो, फिर विकास की दिशा निर्धारित करो।"
इसका अर्थ विकास को रोकना नहीं, बल्कि विकास को **स्थानानुकूल** बनाना है।

26.5 विकास परियोजनाओं का भू-सांस्कृतिक प्रभाव आकलन

भविष्य में बड़ी परियोजनाओं के पर्यावरणीय प्रभाव के साथ एक व्यापक **भू-सांस्कृतिक प्रभाव आकलन** पर भी विचार किया जा सकता है।

किसी परियोजना से नदी, जलागम, कृषि, वन, स्थानीय आजीविका, सांस्कृतिक विरासत, पारंपरिक जल-स्रोत और सामुदायिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ेगा—इन सभी को एक साथ देखा जा सकता है।

ऐसा आकलन विकास-विरोधी उपकरण नहीं होना चाहिए। उसका उद्देश्य यह होना चाहिए कि परियोजना की योजना इस प्रकार बनाई जाए कि अनावश्यक सामाजिक और पारिस्थितिक क्षति को कम किया जा सके तथा स्थानीय लाभ बढ़ाए जा सकें।



अध्याय-27
ग्राम से राष्ट्र तक

27.1 भारत का वास्तविक आधार : ग्राम और स्थानीय समुदाय

भारत की राष्ट्रीय शक्ति केवल महानगरों, औद्योगिक केंद्रों और बड़े आर्थिक संस्थानों में नहीं है। भारत के गाँवों, छोटे नगरों, कृषि समुदायों, कारीगरों, पशुपालकों, मछुआरों, वन-आधारित समुदायों और स्थानीय उद्यमों में भी उसकी विशाल क्षमता निहित है। यदि स्थानीय समुदायों को अपने प्राकृतिक संसाधनों और आर्थिक अवसरों के साथ सशक्त बनाया जाए तो ग्राम-स्तर का विकास राष्ट्रीय विकास में योगदान कर सकता है।

इसीलिए "ग्राम से राष्ट्र" का अर्थ केवल ग्रामीण विकास नहीं है। इसका अर्थ है—

स्थानीय क्षमता → स्थानीय आत्मविश्वास → स्थानीय अर्थव्यवस्था → क्षेत्रीय समृद्धि → राष्ट्रीय शक्ति।

27.2 ग्राम को केवल लाभार्थी नहीं, भागीदार मानना

विकास की पारंपरिक संरचनाओं में कभी-कभी गाँव को योजनाओं के "लाभार्थी" के रूप में देखा जाता है। भू-सांस्कृतिक दृष्टिकोण इससे आगे जाकर ग्राम को **योजना-निर्माण का सहभागी** मानता है।

गाँव के लोग जानते हैं कि कौन-सा तालाब कब भरता है, किस खेत में पानी रुकता है, किस कुएँ का जल कब कम होता है, कौन-सी फसल स्थानीय मिट्टी के लिए उपयुक्त है और कौन-से रास्ते वर्षा में अवरुद्ध होते हैं। इस स्थानीय ज्ञान को योजना प्रक्रिया में शामिल किया जाए तो योजनाएँ अधिक स्थानानुकूल हो सकती हैं।

27.3 ग्राम का राष्ट्रीय महत्व

यदि एक गाँव अपने जल का संरक्षण करता है, तो उसका प्रभाव केवल गाँव तक सीमित नहीं रहता। भूजल, नदी, कृषि उत्पादन और स्थानीय खाद्य सुरक्षा के माध्यम से उसका प्रभाव व्यापक हो सकता है। इसी प्रकार यदि हजारों

गाँव जलागम संरक्षण, मृदा-संरक्षण और सतत कृषि को अपनाते हैं तो राष्ट्रीय स्तर पर जल-सुरक्षा, खाद्य-सुरक्षा और पारिस्थितिक स्थिरता में योगदान हो सकता है।
इसलिए—
"राष्ट्र का भविष्य ग्राम की स्थानीय क्षमता के समुच्चय से बनता है।"

27.4 ग्राम से 86 क्षेत्र और 86 क्षेत्रों से राष्ट्र

इस पुस्तक की संरचना में ग्राम सबसे छोटी जीवंत इकाई है। अनेक ग्राम मिलकर स्थानीय भू-सांस्कृतिक परिदृश्य बनाते हैं। ऐसे परिदृश्य मिलकर बड़े भू-सांस्कृतिक क्षेत्र बनाते हैं और ये मिलकर भारत की विविधता का व्यापक चित्र प्रस्तुत करते हैं।

इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—
ग्राम → स्थानीय परिदृश्य → भू-सांस्कृतिक क्षेत्र → क्षेत्रीय तंत्र → राष्ट्र।
इस दृष्टि में भारत की एकता ऊपर से थोपी गई समानता नहीं है; वह नीचे से विकसित होने वाली **परस्पर संबद्ध विविधता** है।

अध्याय-28
जल, जंगल, जमीन और जन

28.1 चार तत्वों का संबंध

भारत के प्राकृतिक जीवन को समझने के लिए चार शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण हैं—

जल, जंगल, जमीन और जन।

जल के बिना भूमि की उत्पादकता सीमित होती है। जंगल जलचक्र, मिट्टी, जैव-विविधता और आजीविका से जुड़े हैं। जमीन कृषि और मानव निवास का आधार है। और जन इन तीनों का उपयोगकर्ता होने के साथ-साथ उनका संरक्षक भी हो सकता है। इन चारों को अलग-अलग योजनाओं में बाँट देना कई बार वास्तविक संबंधों को कमजोर कर सकता है।

28.2 जल और जमीन

जल और भूमि का संबंध प्रत्यक्ष है। वर्षा का पानी कहाँ जाएगा, कितना भूमि में समाएगा, कितना बहकर नदी में जाएगा और कितना मिट्टी को कटाव से प्रभावित करेगा—यह भू-आकृति, मिट्टी, वनस्पति और भूमि उपयोग पर निर्भर करता है। यदि भूमि पर अत्यधिक निर्माण हो जाए और प्राकृतिक जल-निकासी बाधित हो तो बाढ़ का जोखिम बढ़ सकता है। यदि जलागम में वनस्पति और मिट्टी की स्थिति कमजोर हो तो वर्षाजल तेजी से बह सकता है। इसलिए भूमि नियोजन और जल नियोजन को साथ देखना आवश्यक है।

28.3 जंगल और जल

वन केवल लकड़ी या वन-उत्पाद का स्रोत नहीं हैं। वे जलचक्र, मृदा संरक्षण, जैव-विविधता और स्थानीय जलवायु से जुड़े हैं। पर्वतीय और जलागम क्षेत्रों में वनस्पति भूमि की जल धारण क्षमता और सतही प्रवाह की प्रकृति को प्रभावित कर सकती है। वन-आधारित समुदायों की आजीविका भी जंगल से जुड़ी होती है।

इसलिए वन संरक्षण को केवल "पेड़ लगाने" तक सीमित नहीं किया जा सकता। आवश्यक है कि **स्थानीय पारिस्थितिकी के अनुरूप वन पुनर्स्थापना** की जाए और स्थानीय समुदायों की भूमिका को समझा जाए।

28.4 जमीन और जन

भूमि मानव सभ्यता का आधार है। कृषि, घर, सड़क, उद्योग और अन्य आर्थिक गतिविधियाँ भूमि से जुड़ी हैं। लेकिन भूमि की क्षमता सीमित है। जब कृषि भूमि तेजी से गैर-कृषि उपयोग में बदलती है, जब उपजाऊ मिट्टी का क्षरण होता है या जब जलभराव और प्रदूषण बढ़ता है, तो इसका सीधा प्रभाव स्थानीय समुदाय पर पड़ता है। इसलिए भूमि उपयोग नियोजन में केवल वर्तमान आर्थिक लाभ नहीं, बल्कि **भूमि की दीर्घकालीन वहन क्षमता** को भी ध्यान में रखना आवश्यक है।

28.5 जन: उपभोक्ता से संरक्षक तक

"जन" इस चतुष्कोण का सबसे सक्रिय तत्व है। मनुष्य प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग करता है, लेकिन वही उनकी रक्षा भी कर सकता है।

यदि समुदाय जल-स्रोत की रक्षा करता है, जंगल की निगरानी करता है, मिट्टी का संरक्षण करता है और स्थानीय जैव-विविधता का दस्तावेज तैयार करता है, तो वह प्रकृति का केवल उपभोक्ता नहीं रहता; वह **प्रकृति का सह-प्रबंधक** बन जाता है। यही समुदाय-केंद्रित संरक्षण का आधार है।

28.6 जल-जंगल-जमीन-जन का संतुलन

इन चारों के बीच संतुलन का अर्थ यह नहीं कि चारों को समान मात्रा में उपयोग किया जाए। इसका अर्थ है कि किसी एक की कीमत पर दूसरे का दीर्घकालीन विनाश न हो।

विकास का वास्तविक प्रश्न होना चाहिए—

क्या जल सुरक्षित है?
क्या मिट्टी स्वस्थ है?
क्या जैव-विविधता सुरक्षित है?
क्या स्थानीय आजीविका टिकाऊ है?
क्या समुदाय निर्णय प्रक्रिया में सहभागी है?

यदि इन प्रश्नों का उत्तर सकारात्मक दिशा में है तो विकास अधिक टिकाऊ आधार प्राप्त करता है।

अध्याय-29
स्थानीय ज्ञान से आत्मनिर्भरता

29.1 ज्ञान भी एक संसाधन है

आत्मनिर्भरता की चर्चा प्रायः उत्पादन, उद्योग, ऊर्जा और आर्थिक क्षमता के संदर्भ में होती है। लेकिन किसी समाज की एक और महत्त्वपूर्ण संपत्ति है—**ज्ञान**।

किसान का बीज-ज्ञान, चरवाहे का पशु-ज्ञान, कारीगर का सामग्री-ज्ञान, वनवासी का पौधा-ज्ञान, जल-संरक्षक का जलागम-ज्ञान और स्थानीय समुदाय का मौसम-ज्ञान—ये सभी ज्ञान-संपदा हैं।

यदि यह ज्ञान दस्तावेजीकृत नहीं हुआ तो आधुनिक पीढ़ियों के साथ इसका बड़ा हिस्सा समाप्त हो सकता है।

29.2 लोकज्ञान का दस्तावेजीकरण

प्रत्येक भू-सांस्कृतिक क्षेत्र में स्थानीय ज्ञान का डिजिटल अभिलेख बनाया जा सकता है। इसमें स्थानीय फसलें, बीज, जल-संरचनाएँ, औषधीय पौधे, पारंपरिक कृषि उपकरण, निर्माण तकनीक, भोजन, लोकगीत, मौसम संकेत और प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन की पद्धतियाँ दर्ज की जा सकती हैं।

इस प्रक्रिया में समुदाय की सहमति और ज्ञान के अधिकार का सम्मान आवश्यक होगा। किसी समुदाय के पारंपरिक ज्ञान का व्यावसायिक उपयोग होने पर लाभ-साझेदारी और बौद्धिक संपदा से जुड़े प्रासंगिक प्रावधानों को भी ध्यान में रखना होगा।

29.3 वैज्ञानिक परीक्षण

दस्तावेजीकरण के बाद अगला चरण वैज्ञानिक परीक्षण हो सकता है।

कौन-सा पारंपरिक बीज सूखे में बेहतर प्रदर्शन करता है?

कौन-सी जल-संरचना भूजल पुनर्भरण में अधिक उपयोगी है?

कौन-सी पारंपरिक निर्माण तकनीक गर्मी में तापमान कम रखती है?

कौन-सी कृषि-पद्धति मिट्टी में अधिक जैविक पदार्थ बनाए रखती है?

इन प्रश्नों पर कृषि विज्ञान, जल विज्ञान, भू-विज्ञान, पारिस्थितिकी, वास्तुकला और सामाजिक विज्ञान के शोध किए जा सकते हैं। इस प्रकार लोकज्ञान **संग्रहालय की वस्तु** न रहकर **भविष्य के नवाचार का स्रोत** बन सकता है।

29.4 स्थानीय ज्ञान और आधुनिक तकनीक

डिजिटल तकनीक स्थानीय ज्ञान को सुरक्षित रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। मोबाइल एप्लीकेशन, GIS, रिमोट सेंसिंग, ड्रोन, डिजिटल ऑडियो-वीडियो अभिलेख और कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित डेटा विश्लेषण का उपयोग किया जा सकता है।

उदाहरण के लिए किसी गाँव के पुराने तालाब का 50 वर्ष का इतिहास स्थानीय बुजुर्गों के साक्षात्कार, पुराने नक्शों और वर्तमान उपग्रह चित्रों से तैयार किया जा सकता है।

इससे हमें पता चल सकता है कि तालाब का आकार कैसे बदला, आसपास की भूमि का उपयोग कैसे बदला और जल उपलब्धता में क्या परिवर्तन हुआ।

29.5 स्थानीय ज्ञान से स्थानीय अर्थव्यवस्था

जब स्थानीय ज्ञान वैज्ञानिक रूप से प्रमाणित और व्यवस्थित होता है, तो उससे स्थानीय उद्यम भी विकसित हो सकते हैं। स्थानीय खाद्य पदार्थ, प्राकृतिक उत्पाद, पारंपरिक हस्तशिल्प, जल-संरक्षण तकनीक, जैविक कृषि और पारिस्थितिकी-आधारित पर्यटन इसके संभावित क्षेत्र हो सकते हैं।

लेकिन आत्मनिर्भरता का अर्थ केवल स्थानीय उत्पाद बेचना नहीं है। वास्तविक आत्मनिर्भरता में **ज्ञान, कौशल, संसाधन और निर्णय क्षमता** का स्थानीयकरण भी शामिल है।

अध्याय-30
पुनर्जनन आधारित विकास

30.1 विकास की नई परिभाषा

पारंपरिक आर्थिक विकास का एक बड़ा हिस्सा संसाधनों के उपयोग और उत्पादन वृद्धि पर केंद्रित रहा है। यह मॉडल अनेक परिस्थितियों में आर्थिक समृद्धि ला सकता है, लेकिन यदि संसाधनों का उपयोग उनकी प्राकृतिक पुनर्भरण क्षमता से अधिक हो जाए तो दीर्घकाल में संकट उत्पन्न हो सकता है। पुनर्जनन आधारित विकास इस प्रश्न को बदलता है—

"हम प्रकृति से कितना ले सकते हैं?" से

"हम प्रकृति को कितना पुनर्जीवित कर सकते हैं?"

की ओर।

30.2 संरक्षण से एक कदम आगे : पुनर्जनन

संरक्षण का उद्देश्य किसी मौजूदा संसाधन को बचाना हो सकता है। पुनर्जनन का उद्देश्य क्षतिग्रस्त पारिस्थितिक तंत्र की कार्यक्षमता को फिर से मजबूत करना है।

एक सूखे तालाब को बचाना संरक्षण हो सकता है; उसके जलागम, जलग्रहण क्षेत्र, किनारे की वनस्पति और समुदाय-आधारित प्रबंधन को पुनर्जीवित करना पुनर्जनन की दिशा हो सकती है।

इसी प्रकार नदी में केवल पानी छोड़ना पर्याप्त नहीं; उसके जलागम, सहायक धाराओं, बाढ़-मैदान, आर्द्रभूमियों और जैव-विविधता को पुनर्जीवित करना अधिक व्यापक दृष्टिकोण है।

30.3 पुनर्जनन और कृषि

कृषि में पुनर्जनन का अर्थ केवल रासायनिक इनपुट कम करना नहीं है। इसमें मिट्टी की जैविक गुणवत्ता, जल धारण क्षमता, जैव-विविधता, फसल विविधता और स्थानीय पारिस्थितिकी को मजबूत करना शामिल हो सकता है।

मृदा को केवल उत्पादन का माध्यम नहीं, बल्कि **जीवित पारिस्थितिक तंत्र** के रूप में देखना इस दृष्टिकोण का आधार है।

30.4 पुनर्जनन और जल

पुनर्जनन आधारित जल प्रबंधन का उद्देश्य वर्षा की प्रत्येक बूँद को जहाँ गिरे वहीं अधिकतम रोकना नहीं, बल्कि जल के प्राकृतिक प्रवाह और जलागम की आवश्यकताओं के अनुरूप उसका प्रबंधन करना है। जहाँ संभव हो वहाँ जल को मिट्टी में पहुँचाना, स्थानीय जल-स्रोतों को पुनर्जीवित करना, भूजल पुनर्भरण बढ़ाना और जल उपयोग को स्थानीय उपलब्धता के अनुरूप बनाना आवश्यक हो सकता है। इसका आधार एक सरल सिद्धांत है—

जल को केवल स्थानांतरित करने के बजाय जलचक्र को पुनर्जीवित करना।

30.5 पुनर्जनन और अर्थव्यवस्था

पुनर्जनन आधारित अर्थव्यवस्था में आर्थिक गतिविधि और प्रकृति संरक्षण को परस्पर विरोधी मानना आवश्यक नहीं है।

स्थानीय कृषि, जल-संरक्षण, वन-आधारित उत्पाद, पारिस्थितिकी पर्यटन, प्राकृतिक निर्माण सामग्री, जैविक संसाधन और स्थानीय हस्तशिल्प जैसी गतिविधियाँ उचित नियमन और प्रबंधन के साथ स्थानीय अर्थव्यवस्था तथा पारिस्थितिक संरक्षण दोनों को सहारा दे सकती हैं। यहाँ लक्ष्य "कम विकास" नहीं, बल्कि **प्रकृति की वहन क्षमता के भीतर दीर्घकालीन समृद्धि** है।

30.6 पुनर्जनन आधारित ग्राम

भविष्य में प्रत्येक गाँव के लिए एक **"पुनर्जनन ग्राम योजना"** की कल्पना की जा सकती है। इसमें गाँव के जल स्रोत, मिट्टी, कृषि, वृक्ष, चरागाह, जैव-विविधता, अपशिष्ट, ऊर्जा और आजीविका का समग्र अध्ययन किया जाए। फिर पाँच या दस वर्षों की पुनर्जनन योजना बनाई जाए, जिसके लक्ष्य हो सकते हैं—

जल-सुरक्षा, मृदा स्वास्थ्य, जैव-विविधता, स्थानीय रोजगार, नवीकरणीय ऊर्जा, अपशिष्ट प्रबंधन और सामुदायिक संस्थाओं का सुदृढ़ीकरण।

इस प्रकार विकास का केंद्र केवल "नई परिसंपत्ति बनाना" न होकर **प्राकृतिक और सामाजिक पूँजी को बढ़ाना** बन सकता है।

अध्याय-31
86-क्षेत्रों से एक भारत

31.1 विविधता भारत की संरचनात्मक शक्ति

भारत की सबसे बड़ी विशेषताओं में से एक उसकी विविधता है। पर्वत, मैदान, पठार, मरुस्थल, तट, द्वीप, नदी घाटियाँ, वन क्षेत्र और कृषि क्षेत्र—इन सभी ने अलग-अलग जीवन-प्रणालियों को जन्म दिया है। भाषाओं, बोलियों, खान-पान, वस्त्रों, लोकगीतों, त्योहारों और सामाजिक परंपराओं की विविधता भी इसी भौगोलिक विविधता से जुड़ी हुई है। इसलिए भारत की एकता का अर्थ समानता नहीं है। **भारत की एकता उसकी विविधताओं के परस्पर संबंध में निहित है।**

31.2 86 क्षेत्र : 86 जीवन-दृष्टियाँ

यदि 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों को इस पुस्तक की प्रस्तावित कार्य-इकाइयों के रूप में देखा जाए, तो प्रत्येक क्षेत्र भारत की एक विशिष्ट जीवन-दृष्टि प्रस्तुत करता है—कहीं जल संस्कृति का केंद्र है, कहीं जंगल, कहीं पर्वत, कहीं समुद्र, कहीं नदी, कहीं चरागाह और कहीं कृषि।

इन सभी क्षेत्रों की अपनी स्थानीय पहचान है, लेकिन कोई भी क्षेत्र पूर्णतः अलग-थलग नहीं है। नदियाँ क्षेत्रों को जोड़ती हैं, व्यापार क्षेत्रों को जोड़ता है, प्रवासन लोगों को जोड़ता है, भाषाएँ एक-दूसरे से शब्द ग्रहण करती हैं और भोजन की परंपराएँ एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तक पहुँचती हैं।

इसलिए—

86 क्षेत्र अलग-अलग भारत नहीं हैं; वे एक ही भारत के 86 भू-सांस्कृतिक आयाम हैं।

31.3 विविधता से संवाद

भू-सांस्कृतिक मानचित्र का उद्देश्य क्षेत्रों के बीच दीवार खड़ी करना नहीं, बल्कि संवाद स्थापित करना है।

राजस्थान का जल-ज्ञान हिमालय के किसी जल-संकटग्रस्त गाँव के लिए सीधे लागू न हो, लेकिन उसके पीछे का सिद्धांत—**स्थानीय वर्षाजल को समझना**

और समुदाय के माध्यम से संरक्षित करना—अन्य क्षेत्रों के लिए प्रेरक हो सकता है।

हिमालय की सीढ़ीदार कृषि मरुस्थल में उपयोगी नहीं होगी, लेकिन मिट्टी और जल को भू-आकृति के अनुरूप प्रबंधित करने का सिद्धांत व्यापक है। इस प्रकार भू-सांस्कृतिक विविधता **ज्ञान के आदान-प्रदान का माध्यम** बन सकती है।

31.4 "एक भारत" की नई व्याख्या

एक भारत का अर्थ यह नहीं कि हर क्षेत्र की भाषा, कृषि, भोजन या परंपरा समान हो जाए। ऐसी समानता विविधता को कमजोर कर सकती है।
एक भारत का अधिक जीवंत अर्थ यह हो सकता है कि—
विविध भूगोल → विविध संस्कृति → साझा प्राकृतिक आधार → परस्पर सीख → साझा राष्ट्रीय भविष्य।

एक क्षेत्र के जल संरक्षण का अनुभव दूसरे क्षेत्र के लिए ज्ञान बन सकता है। एक क्षेत्र का जैव-विविधता संरक्षण दूसरे क्षेत्र के लिए प्रेरणा हो सकता है। एक क्षेत्र का स्थानीय उद्यम दूसरे क्षेत्र में नए रूप में विकसित हो सकता है। यही **ज्ञान की राष्ट्रीय एकता** है।

31.5 86-क्षेत्र और राष्ट्रीय जल-सुरक्षा

भारत की जल-सुरक्षा भी भू-सांस्कृतिक दृष्टि से समझी जा सकती है। प्रत्येक क्षेत्र अपने जलागम, नदी, भूजल और वर्षा के अनुसार योगदान कर सकता है। यदि स्थानीय जल-स्रोतों का संरक्षण होता है तो बड़े शहरों और दूरस्थ क्षेत्रों पर जल-आपूर्ति का दबाव कुछ परिस्थितियों में कम किया जा सकता है। इसी प्रकार जलागम संरक्षण से नदियों और जलाशयों के स्वास्थ्य को समर्थन मिल सकता है। इसलिए राष्ट्रीय जल-सुरक्षा का एक आधार **स्थानीय जल-सुरक्षा** हो सकता है।

31.6 86-क्षेत्र और राष्ट्रीय जलवायु लचीलापन

इसी प्रकार राष्ट्रीय जलवायु-लचीलापन (National Climate Resilience) भी स्थानीय जलवायु-लचीलेपन (Local Climate Resilience) के सुदृढ़ आधार पर विकसित होगा।

यदि प्रत्येक भू-सांस्कृतिक क्षेत्र अपने जलवायु जोखिमों को पहचानता है, स्थानीय कृषि को अनुकूलित करता है, जल-स्रोत सुरक्षित करता है, आपदा तैयारी मजबूत करता है और समुदाय को प्रशिक्षित करता है, तो सामूहिक रूप से भारत की जलवायु लचीलापन क्षमता बढ़ सकती है।
इसलिए—
राष्ट्रीय लचीलापन = स्थानीय लचीलापन का समुच्चय।

31.7: 86-क्षेत्र और आत्मनिर्भर भारत

आत्मनिर्भरता का एक महत्वपूर्ण आयाम स्थानीय संसाधनों और स्थानीय ज्ञान का बेहतर उपयोग है। यदि प्रत्येक भू-सांस्कृतिक क्षेत्र अपनी विशिष्ट आर्थिक और पारिस्थितिक क्षमता को पहचानता है तो स्थानीय उद्यमों के लिए नए अवसर विकसित हो सकते हैं।

कहीं कृषि-प्रसंस्करण, कहीं हस्तशिल्प, कहीं वन-आधारित उत्पाद, कहीं मत्स्य पालन, कहीं पर्वतीय उत्पाद, कहीं पर्यटन और कहीं पारंपरिक ज्ञान आधारित नवाचार विकसित हो सकते हैं।

इस प्रकार आत्मनिर्भरता का अर्थ हर वस्तु का उत्पादन हर जगह करना नहीं, बल्कि **हर क्षेत्र की विशिष्ट क्षमता को पहचानना और उसे टिकाऊ अर्थव्यवस्था से जोड़ना** है।

31.8: 86-क्षेत्र और डिजिटल भारत

भविष्य में प्रत्येक भू-सांस्कृतिक क्षेत्र का डिजिटल प्रोफाइल बनाया जा सकता है। उसमें भूगोल, जल, कृषि, संस्कृति, जैव-विविधता, लोकज्ञान, जलवायु जोखिम, संरक्षण कार्य और स्थानीय संस्थाओं की जानकारी हो।
यह डिजिटल एटलस शोधकर्ताओं, विद्यार्थियों, नीति-निर्माताओं, स्थानीय समुदायों और विकास संस्थाओं के लिए ज्ञान का साझा मंच बन सकता है।
भविष्य का भारत केवल डिजिटल भारत **(Digital India)** नहीं, बल्कि □□-सांस्कृतिक डिजिटल भारत **(Geo-Cultural Digital India)** भी हो सकता है—जहाँ डिजिटल तकनीक स्थानीय ज्ञान और प्राकृतिक संसाधनों की समझ को जोड़ती हो।

31.9: 86-क्षेत्रों से एक साझा राष्ट्रीय संकल्प

86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों की अवधारणा अंततः विविधता का दस्तावेज भर नहीं है। यह एक साझा राष्ट्रीय संकल्प की दिशा दे सकती है—

- **हर क्षेत्र अपने जल को समझे।**
- **हर क्षेत्र अपनी मिट्टी को समझे।**
- **हर क्षेत्र अपनी जैव-विविधता को पहचाने।**
- **हर क्षेत्र अपने लोकज्ञान को सुरक्षित करे।**
- **हर क्षेत्र अपनी संस्कृति को जीवित रखे।**
- **हर क्षेत्र जलवायु जोखिम को समझे।**
- **हर क्षेत्र अपने समुदाय को संरक्षण में जोड़े, और**
- **हर क्षेत्र अपने भविष्य के लिए पुनर्जनन की दिशा में बढ़े।**

तब 86 क्षेत्र एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा करने वाली इकाइयाँ नहीं होंगे; वे एक साझा राष्ट्रीय पारिस्थितिक-सांस्कृतिक तंत्र के अंग होंगे।

31.10 समेकित निष्कर्ष : भविष्य का भारत कैसा हो?

भाग–८ की पूरी अवधारणा को यदि एक सूत्र में बाँधा जाए तो भविष्य का भारत ऐसा भारत होना चाहिए जो **अपने भूगोल को समझे, अपनी संस्कृति का सम्मान करे, अपने प्राकृतिक संसाधनों की सीमाओं को पहचाने, स्थानीय ज्ञान को वैज्ञानिक दृष्टि से विकसित करे और विकास को पुनर्जनन से जोड़े।**

- भू-सांस्कृतिक नियोजन हमें बताता है कि विकास को स्थानानुकूल होना चाहिए।
- ग्राम से राष्ट्र की अवधारणा बताती है कि राष्ट्रीय शक्ति स्थानीय समुदायों से निर्मित होती है।
- जल, जंगल, जमीन और जन का संतुलन बताता है कि प्राकृतिक संसाधनों और मानव जीवन को अलग-अलग नहीं देखा जा सकता।
- स्थानीय ज्ञान से आत्मनिर्भरता यह बताती है कि ज्ञान स्वयं एक राष्ट्रीय संपदा है।
- पुनर्जनन आधारित विकास यह बताता है कि भविष्य का विकास केवल प्रकृति से लेने वाला नहीं, बल्कि प्रकृति को पुनः समृद्ध करने वाला होना चाहिए।

और 86 क्षेत्रों से एक भारत यह बताता है कि—

भारत की एकता उसकी समानता में नहीं, बल्कि उसकी विविधताओं के बीच स्थापित जीवंत संबंधों में है।

इसलिए इस पुस्तक की पूरी यात्रा को निम्न सूत्र में संक्षेपित किया जा सकता है—

15-कृषि-जलवायवीय क्षेत्र-भारत की व्यापक प्राकृतिक परिस्थितियों को समझते हैं।
50-भौगोलिक-भौतिक इकाइयाँ-धरती की संरचना और प्राकृतिक तंत्रों को समझती हैं।
86-भू-सांस्कृतिक क्षेत्र-प्रकृति और मानव के संबंध को समझते हैं।
स्थानीय समुदाय-ज्ञान और संरक्षण की वास्तविक शक्ति बनते हैं।
पुनर्जनन आधारित विकास-प्रकृति और अर्थव्यवस्था के बीच नया संतुलन स्थापित करता है।

और अंततः—
86 क्षेत्र → एक साझा पारिस्थितिक भारत → एक जीवंत सांस्कृतिक भारत → एक लचीला और पुनर्जननशील भारत।

इसी अर्थ में **"भूगोल से संस्कृति, संस्कृति से संरक्षण"** केवल अतीत को समझने की पुस्तक नहीं रह जाती; यह भविष्य के भारत के लिए एक संभावित विकास-दृष्टि बन जाती है।

भारत का भविष्य केवल यह नहीं होगा कि उसके शहर कितने बड़े होंगे, उसकी अर्थव्यवस्था कितनी तेज होगी या उसकी तकनीक कितनी उन्नत होगी। भविष्य का वास्तविक प्रश्न यह भी होगा कि —
उसकी नदियाँ कितनी जीवित हैं, उसका भूजल कितना सुरक्षित है, उसकी मिट्टी कितनी स्वस्थ है, उसके जंगल कितने जीवंत हैं, उसकी कृषि कितनी लचीली है, उसका स्थानीय ज्ञान कितना सुरक्षित है और उसके समुदाय अपने प्राकृतिक भविष्य के निर्णयों में कितने सहभागी हैं।

यदि इन प्रश्नों को विकास के केंद्र में रखा जा सके, तो **ग्राम से राष्ट्र और 86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों से एक भारत** की अवधारणा केवल पुस्तक का निष्कर्ष नहीं, बल्कि एक दीर्घकालीन राष्ट्रीय दृष्टि बन सकती है।

अंतिम सूत्र

धरती हमारी आधारभूमि है, जल हमारी जीवनधारा है, जंगल हमारी जैविक विरासत हैं, जन हमारी सृजनात्मक शक्ति है, संस्कृति हमारी स्मृति है, और संरक्षण हमारे भविष्य की जिम्मेदारी है।

भूगोल से संस्कृति, संस्कृति से संरक्षण, संरक्षण से पुनर्जनन, और पुनर्जनन से—एक जीवंत, आत्मनिर्भर, लचीला और सतत भारत।

परिशिष्ट-।
पुस्तकें/ संदर्भ:
वैदिक, वैज्ञानिक एवं न्यायिक स्रोत

1. भारतीय ज्ञान-परंपरा एवं वैदिक साहित्य

1. **ऋग्वेद** — श्रीपाद दामोदर सातवलेकर संपादित, स्वाध्याय मंडल, पारडी।
2. **यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता)** — स्वाध्याय मंडल, पारडी।
3. **सामवेद** — स्वाध्याय मंडल, पारडी।
4. **अथर्ववेद** — स्वाध्याय मंडल, पारडी।
5. **तैत्तिरीय संहिता** — चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
6. **शतपथ ब्राह्मण** — चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
7. **ऐतरेय ब्राह्मण** — चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
8. **ईशावास्य उपनिषद्** — गीता प्रेस, गोरखपुर।
9. **छांदोग्य उपनिषद्**।
10. **बृहदारण्यक उपनिषद्**।
11. **श्रीमद्भगवद्गीता**।
12. **वाल्मीकि रामायण**।
13. **महाभारत**।

2. भारतीय भूगोल, पर्यावरण एवं सांस्कृतिक भूगोल

14. R. L. Singh — **India: A Comprehensive Geography**.
15. Savindra Singh — **Physical Geography**.
16. Savindra Singh — **Environmental Geography**.
17. Majid Husain — **Geography of India**.
18. Majid Husain — **Physical Geography**.
19. **Census of India** — जनगणना एवं सांस्कृतिक-भौगोलिक आँकड़े।
20. **Survey of India** — भारत के स्थलाकृतिक एवं भौगोलिक मानचित्र।
21. **Geological Survey of India (GSI)** — भूवैज्ञानिक एवं भू-आकृतिक रिपोर्टें।
22. **National Atlas & Thematic Mapping Organisation (NATMO)** — विषयगत एवं सांस्कृतिक मानचित्र।

3. जल, नदी एवं जलागम

23. **Central Water Commission (CWC)** — भारत के जल संसाधन एवं नदी संबंधी रिपोर्टें।
24. **Central Ground Water Board (CGWB)** — भूजल संसाधन एवं पुनर्भरण रिपोर्टें।
25. **Ministry of Jal Shakti, Government of India** — जल संरक्षण एवं नदी प्रबंधन संबंधी प्रकाशन।
26. **India-WRIS** — भारत के जल संसाधनों का डिजिटल डेटाबेस।
27. **National Water Mission** — जल संरक्षण एवं जल उपयोग दक्षता संबंधी दस्तावेज।
28. **Tarun Bharat Sangh (TBS)** — जल संरक्षण, जोहड़, जलागम एवं नदी पुनर्जीवन संबंधी दस्तावेज।
29. **Dr. Rajendra Singh** — जल संरक्षण, नदी पुनर्जीवन एवं सामुदायिक भागीदारी से संबंधित लेखन एवं अनुभव।

4. जलवायु परिवर्तन, ग्लोबल वार्मिंग एवं पर्यावरण

30. **IPCC — Climate Change 2021: The Physical Science Basis.**
31. **IPCC — Climate Change 2022: Impacts, Adaptation and Vulnerability.**
32. **IPCC — Climate Change 2022: Mitigation of Climate Change.**
33. **IPCC — Climate Change 2023: Synthesis Report.**
34. **World Meteorological Organization (WMO)** — *State of the Global Climate*.
35. **United Nations Environment Programme (UNEP)** — *Global Environment Outlook*.
36. **United Nations — Sustainable Development Goals (SDGs).**
37. **NASA Earth Observatory** — पृथ्वी, हिमनद, जलवायु एवं पर्यावरण परिवर्तन संबंधी वैज्ञानिक सामग्री।

5. हिमालय, हिमनद एवं जैव-विविधता

38. **ICIMOD — Hindu Kush Himalaya Assessment.**
39. **ICIMOD — Hindu Kush Himalaya Glacier Outlook.**

40. **ICIMOD** — हिंदू कुश हिमालय में हिमनद परिवर्तन संबंधी शोध एवं रिपोर्टें।
41. **National Mission for Sustaining the Himalayan Ecosystem (NMSHE).**
42. **Ministry of Environment, Forest and Climate Change (MoEFCC)** — जैव-विविधता एवं पर्वतीय पारिस्थितिकी संबंधी रिपोर्टें।
43. **Convention on Biological Diversity (CBD)** — जैव-विविधता संरक्षण संबंधी दस्तावेज।

6. पारंपरिक जल-ज्ञान एवं स्थानीय समुदाय

44. Anil Agarwal & Sunita Narain — **Dying Wisdom: Rise, Fall and Potential of India's Traditional Water Harvesting Systems**.
45. **Centre for Science and Environment (CSE)** — पारंपरिक जल प्रणालियों एवं पर्यावरण संबंधी प्रकाशन।
46. **National Biodiversity Authority** — *People's Biodiversity Registers* एवं जैव-सांस्कृतिक ज्ञान।
47. **Ministry of Tribal Affairs, Government of India** — स्थानीय एवं आदिवासी ज्ञान प्रणालियों संबंधी दस्तावेज।

7. प्रो. (डॉ.) भरत राज सिंह की प्रमुख पुस्तकें एवं संपादित ग्रंथ

48. **Development and Analysis of a Novel Air Engine** — Prof. Bharat Raj Singh; Lambert Academic Publishing, UK; ISBN **978-3-8443-8171-9**.
49. **Global Warming – Impacts and Future Perspective** — संपादक: Prof. Dr. Bharat Raj Singh; InTech Open Access Publisher; ISBN **979-953-307-820-4**; DOI **10.5772/2599**; 2012.
50. **Climate Change – Realities, Impacts Over Ice Cap, Sea Level and Risks** — संपादक: Prof. Dr. Bharat Raj Singh; InTech Open Access Publisher; ISBN **978-953-51-0934-1**; DOI **10.5772/3459**; 2013.
51. **Global Warming – Causes, Impacts and Remedies** — संपादक: Prof. Dr. Bharat Raj Singh; InTech, Croatia; ISBN **978-953-51-4123-5**; DOI **10.5772/58506**; 2015.

52. **Can Glacier and Ice Melt Be Reversed?** — Roman Espejo; Cengage Learning; इसमें Prof. Bharat Raj Singh का Chapter 7 योगदान।
53. **Fossil Fuel and The Environment** — इसमें Prof. Bharat Raj Singh का अध्याय **"Global Trends of Fossil Fuel Reserves and Climate Change in the 21st Century"**; ISBN **979-953-307-561-6**.
54. **The Impact of Air Pollution on Health, Agriculture and Technology** — इसमें Prof. Bharat Raj Singh एवं Prof. Onkar Singh का अध्याय **"Influence of the Air Engine on Global Warming Issues – 21st Century Fuel Technology"**; ISBN **978-953-307-528-0**.
55. **Research Methodology** — संपादक मंडल में Dr. K. K. Aggrawal, Dr. Bharat Raj Singh आदि; CEGR, New Delhi; ISBN **978-81-935740-2-7**, 2017.
56. **Environmental Studies** — संपादक मंडल में Dr. D. S. Chauhan, Dr. Anil Kumar आदि; CEGR, New Delhi; ISBN **978-81-933475-0-3**, 2017.

8. अरावली, पर्यावरण एवं भू-सांस्कृतिक अध्ययन

60. **A New Crisis over the Aravalli** — लेखक: **Dr. Rajendra Singh**; संपादक: **Prof. Bharat Raj Singh**; प्रथम संस्करण, फरवरी 2026; Lulu Press Inc., USA; ISBN **978-1-105-67866-0**.

9. संस्थागत एवं वैज्ञानिक स्रोत

61. **Indian Space Research Organisation (ISRO)** — पृथ्वी-अवलोकन एवं पर्यावरणीय निगरानी।
62. **National Remote Sensing Centre (NRSC)** — रिमोट सेंसिंग एवं प्राकृतिक संसाधन अध्ययन।
63. **Ministry of Environment, Forest and Climate Change, Government of India** — पर्यावरण, वन एवं जैव-विविधता संबंधी अधिसूचनाएँ एवं रिपोर्टें।
64. **Ministry of Earth Sciences, Government of India** — जलवायु एवं मौसम संबंधी वैज्ञानिक रिपोर्टें।

65. **United Nations Environment Programme (UNEP)** — वैश्विक पर्यावरण एवं सतत विकास संबंधी रिपोर्टें।
66. **Food and Agriculture Organization (FAO)** — भूमि, कृषि, जल एवं खाद्य सुरक्षा संबंधी अध्ययन।
67. **UNESCO** — सांस्कृतिक परिदृश्य, प्राकृतिक विरासत एवं सतत विकास संबंधी प्रकाशन।

10. पुस्तक की प्राथमिक एवं क्षेत्रीय सामग्री-तरुण भारत संघ

68. **तरुण भारत संघ — 11–13 सितम्बर 2026, नई दिल्ली, भू-सांस्कृतिक विचार-विमर्श से संबंधित दस्तावेज।**
69. **जन-घोषणापत्र — "धरती बचेगी तो समाज बचेगा; समाज बचेगा तो संस्कृति बचेगी।"**
70. **86 भू-सांस्कृतिक क्षेत्रों के मानचित्र एवं अध्ययन-सामग्री।**
71. स्थानीय किसानों, जल-संरक्षकों, ग्रामीण समुदायों, महिलाओं, युवाओं एवं सामाजिक कार्यकर्ताओं का क्षेत्रीय ज्ञान एवं अनुभव।
72. लेखक द्वारा संकलित **क्षेत्रीय अध्ययन, पर्यावरणीय विश्लेषण एवं वैज्ञानिक व्याख्या**

परिशिष्ट -II
शब्द-कोष

अ

अंतरराज्यीय नदी-62
अंतरराज्यीय समन्वय-148
अंतरराष्ट्रीय नदी-62
अग्नि और पृथ्वी निर्माण-71, 72
अत्यधिक वर्षा-48, 49
अरावली पर्वतमाला-52, 61, 153, 155
अवशोषण (Infiltration)-87
अवैध खनन-147
अस्थिर नदियाँ-63
अहिंसा और जल संरक्षण-67, 69, 70

आ

आंगई बाँध-151, 155
आग्नेय चट्टानें-52, 53, 54, 55, 56
आजीविका-1–3, 6–8, 15–20, 27–29, 31–39, 41–42, 48, 50, 53, 61, 64–65, 76, 80, 85–86, 90–93, 98–99, 103–104, 106–108, 111–113
आत्मनिर्भरता-203, 204, 205, 206
आधार प्रवाह-92, 93
आधुनिक तकनीक-111
आधुनिक मौसम पूर्वानुमान-47, 48, 49, 50
आधुनिक विज्ञान-221, 222, 223, 225, 226, 228
आधुनिक विज्ञान-5, 7, 20, 27, 38, 50, 87, 94, 101, 109
आधुनिक समय में भारतीय परंपरा की प्रासंगिकता-107
आर्थिक समृद्धि-191, 195, 198, 201, 206, 208, 210, 212, 214, 216, 217, 218
आर्द्रभूमि-17, 18, 29, 33, 37, 44, 49, 52–54
आहर-पाइन-41, 42, 226, 227

इ

इकाई-6, 8, 17, 23

उ

उतंगन नदी-155
उत्तरदायित्व-113, 114
उपनदी-57

ऊ

ऊदबिलाव-145
ऊर्जा-39, 40, 41, 42, 43, 44, 45, 46, 47, 48, 49, 50
ऋतुओं का अध्ययन-39, 40

ए

एंटीसिडेंट नदी-63
एनीकट-204, 208, 210, 214, 218
एरी-41, 42

औ

औद्योगिक अपशिष्ट-143, 147

क

कंटूर ट्रेंचिंग-146
कटावपूर्ण व्यवहार-64
कार्यप्रणाली-118, 120
कार्यसंचालन-113, 114, 115, 116
कुआँ-15–20, 22–24
कृषि-1–3, 6–8, 11–20, 22–24, 26–31, 33–54, 56–60, 62, 64–67, 69, 77–81, 84–87, 89–93, 95, 97–101, 103–114
कृषि-जलवायवीय क्षेत्र-2, 6, 8, 17
कृषि-जलवायु-5, 17, 19–20, 29, 43–54, 56, 65, 67, 87, 91, 93, 100, 104–105, 107, 109, 113
कृषि-पद्धति-1, 17, 19–20
कृषि-परिदृश्य-20

छ

छोटी नदियाँ-61, 102, 103, 104
छोटी नदियों का पुनर्जीवन-102, 103, 104

ज

जनभागीदारी आधारित कार्यप्रणाली-113, 114, 115, 116
जनभागीदारी एवं जल प्रबंधन-226, 227, 228
जनभागीदारी-107, 108, 112, 113, 193, 195, 198, 200, 204, 206, 208, 210, 212, 214, 216, 218, 220
जनसहभागिता आधारित संरक्षण मॉडल-147
जल उपयोग का संतुलन-143
जल एवं शांति लोक सम्मेलन-149, 150
जल और अर्थव्यवस्था-127
जल और आजीविका-127
जल का न्यायपूर्ण उपयोग-39, 40
जल का वैज्ञानिक स्वरूप-39, 40, 41, 42, 43, 44, 45, 46, 47, 48, 49, 50
जल का सांस्कृतिक महत्व-221, 222, 225, 226, 228
जल की कमी-138, 139
जल चक्र-39, 40, 41, 42, 43, 83, 84
जल प्रदूषण-39, 40, 41, 42, 43, 44, 45, 46, 47, 48, 49, 50
जल प्रबंधन मूल्यांकन-121, 122
जल विज्ञान चक्र-39, 40, 41, 42, 43
जल विज्ञान-39, 40, 41, 42, 43, 82, 83, 84
जल विद्या और विज्ञान का इतिहास-39
जल शुद्धीकरण-39, 40, 41
जल संकट-138, 143, 154, 156, 159, 161, 164, 170, 172, 175, 178, 189, 190, 193, 195, 198,

201, 204, 206, 208, 210, 212
जल संचयन-40, 41, 42, 43, 44, 45, 46, 47, 48
जल संतुलन सिद्धान्त-86
जल संरक्षण-40, 41, 42, 43, 44, 45, 46, 47, 48, 49, 50, 124, 125, 126, 127

न

नलकूप-154, 161
नागरिक की भूमिका-228
नीति-निर्माण-39, 40

प

पंचमहाभूत-71
पक्षी-153, 166, 169, 177, 180
पर्यावरणीय प्रभाव एवं मूल्यांकन रिपोर्ट-117, 118, 120, 121, 122
पलायन-154, 159, 161, 162, 167, 170, 175, 178, 181, 190, 195, 198, 201, 204, 206, 208, 210, 212, 214, 216
पशुपालन-130, 159, 160, 162, 163, 164, 168, 170, 177, 179, 181, 183, 185, 190, 193, 195, 200, 201, 204, 206, 208, 210, 212, 214, 216, 217, 218, 220
पारंपरिक जल संरचनाएँ-94, 95, 105, 106, 107, 108, 189, 200, 201, 204, 206, 208, 210, 212, 214, 216, 225, 226, 227, 228
पारंपरिक प्राकृतिक संकेत-47, 48, 49, 50
पार्वती नदी-151, 155
पावेश्वर-170, 171, 172
पुनर्जनन आधारित ग्राम-209, 210
पुनर्जनन आधारित विकास-205, 206, 207, 208, 209, 210, 211, 212, 213, 214, 215, 216, 217, 218, 219, 220
पुनर्जनन और कृषि-206, 207
पुनर्जनन और जल-207, 208
पुनर्जनन-205, 206, 207, 208, 209, 210, 211, 212, 213, 214, 215, 216, 217, 218, 219, 220
पृथ्वी निर्माण-71, 72
पेयजल संकट-225, 227, 228
पेयजल-136, 145
पोखर-189, 191, 193, 195, 198, 200, 204, 206, 208, 210, 212, 214, 216, 218
प्रकृति की वहन क्षमता-208, 209
प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व-39, 40, 41, 42, 43, 44, 45, 46, 47, 48, 49, 50
प्रायद्वीपीय नदियाँ-61, 62

ब

बजट-113, 114, 115, 116

बटीकरा-181, 182, 183, 184, 185, 186
बड़े बाँध-124, 125
बहु-स्तरीय नियोजन-196, 197, 198
बागी जीवन-138, 139, 140
बाघ-131, 153
बाजना-198, 199, 200
बाढ़ और सूखा-193, 195, 198, 200, 204
बाढ़-124, 125, 126
बावड़ियाँ-226, 227
बावड़ी-41, 42, 43
बिदरपुर-164, 165, 166, 167
बिरजा-167, 168, 169
वैश्विक मॉडल-226, 228

भ

भू-सांस्कृतिक-86
क्षेत्र-109 -130, 131- 150, 151- 200, 201- 220

श

शहरी सीवेज-143, 147
शांति और समृद्धि-167, 172, 181
शिक्षा-191, 198, 201, 206, 208, 210, 212, 214, 216, 218
शुष्क अंतराल-48, 49
शोध एवं अकादमिक अध्ययन-39, 40

स

संवेदनशील क्षेत्र-36, 58, 73, 83
सतत जल प्रबंधन-223, 225, 226, 228
सतत विकास-49, 50, 78, 79, 80, 130, 137, 149
समुदाय आधारित जल संरक्षण-149, 150
समुद्र एवं महासागर-39, 40
समुद्र के भीतर अग्नि-39, 40
समुद्री ज्वालामुखी-39, 40
सहायक नदी-57, 58, 60
सामाजिक परिवर्तन-154, 158, 160, 162, 164, 167, 170, 177, 179, 181, 183, 185, 191, 195, 198, 201, 206, 208, 210, 212, 214, 216, 217, 218, 220
सामाजिक सहयोग-226, 227, 228
सामाजिक सौहार्द-206, 208, 210, 212, 214, 216, 218
सामुदायिक भागीदारी-40, 41, 42, 43, 44, 45, 46, 47, 48
सामुदायिक श्रम-226, 227, 228
सामुदायिक संगठन-165, 167
सामुदायिक सहभागिता-76, 77, 78, 112, 113
सिंचाई-70, 71, 136, 143
सिंधु-गंगा बेसिन-51, 52, 57
सिल्स-53

सीरे प्रथम की पोखर
सूखा-124, 125, 126
सृष्टि की उत्पत्ति-39, 40
सोनी-175, 176, 177
स्थानीय अर्थव्यवस्था-=205, 206, 207
स्थानीय ज्ञान का दस्तावेजीकरण-204, 205
स्थानीय ज्ञान से आत्मनिर्भरता-203, 204, 205
स्थानीय नेतृत्व-39, 40
स्थानीय योजना-196, 197, 198
स्थानीय समुदाय-137, 147, 148, 225, 226, 227, 228
स्थायी जल प्रवाह-75, 76
स्वावलंबी गाँव-167, 168, 169, 173, 178, 183, 198, 200, 206, 208, 210, 212, 214, 216, 218

ह

हिमालय-51, 52, 53, 56
हिमालयी नदियाँ-61, 62, 63

प्रकृति और संस्कृति से विकसित भारत की परिकल्पना:
भारतीय भू-सांस्कृतिक परंपराओं पर आधारित—सनातन एवं आधुनिक विकास की एक पहल

ISBN: 978-93-6581-530-6
पुस्तक मूल्य: भारत **₹399;** USD **$4.50**

Natals Publication.
UDYAM-DL-02-0037614
Chhatarpur, SouthWest Delhi-110074,India
E-mail:natalspublications@gmail.com

Copyright © 2026 natals.in